UNIVERSAL
LIBRARY

OU_180255

UNIVERSAL
LIBRARY

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H 923.254 U65 B Accession No. G.H. 2731

Author उपाध्याय, हरिभाऊ

Title बापू के आश्रम में १९६१

This book should be returned on or before the date last marked below.

सत्साहित्य-प्रकाशन

बापू के आश्रम में

—गांधीजी के संपर्क के संस्मरण—

हरिभाऊ उपाध्याय

पुस्तक भेंट के निमित्त है

१९६१

सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली

प्रकाशक
मार्तण्ड उपाध्याय
मन्त्री, सस्ता साहित्य मण्डल
नई दिल्ली

तीसरी बार : १९६१
मूल्य
सवा रुपया

मुद्रक
भारत मुद्रणालय,
शाहदरा-दिल्ली-३२

बापू !
आपका यह स्मरण
और किसे
अर्पण करूं ?

—हरिभाऊ

प्रकाशकीय

महापुरुषों के जीवन की छोटी-से-छोटी घटनाएं भी अपना महत्व रखती हैं। उनमें उनके व्यक्तित्व एवं गुणों की झांकी मिलती है। प्रस्तुत पुस्तक के लेखक को गांधीजी के सहवास और सम्पर्क मे सत्ताईस वर्ष तक रहने का सुअवसर मिला था। इन वर्षों की कुछ चुनी हुई घटनाओं को इस पुस्तक में संग्रहीत किया गया है। प्रत्येक घटना से हमें कुछ-न-कुछ शिक्षा मिलती है। कुछ घटनाएं तो इतनी मार्मिक और हृदय-स्पर्शी हैं कि पढ़कर पाठक अभिभूत हो जाता है।

पुस्तक का यह तीसरा संस्करण निकल रहा है। हमारा विश्वास है कि इसे जो भी पढ़ेगा, उसे लाभ ही होगा।

—मंत्री

निवेदन

बापू गये, उनके विचार, जीवन-चरित्र व जीवन-सस्मरण विरासत के रूप में हमारे लिए बाकी रह गये। विचारों की तो वह सदैव वृष्टि करते रहे—उनके लेख, पत्र, व्याख्यानों के टिप्पण प्रायः सब सुरक्षित हैं। व्यक्ति अपने जीवन की साधारण घटनाओं में जितना चमकता है, उनसे जितनी शिक्षा, स्फूर्ति, मिसाल हमें मिलती है, जितना जादू की तरह असर होता है, उतना कोरे विचारों का या उपदेशों का नहीं। विचार व उपदेश वही असर करते हैं, जो जीवन के साथ घुले-मिले होते हैं। अतः बापू के अवसान के प्रथम धक्के के बाद जब चित्त कुछ काम करने लगा तो खयाल हुआ कि बापू की क्या पूंजी अपने पास है, जो अपने भी काम आये और दूसरों के भी। एक-एक करके बहुतेरी घटनाएं आंखों के सामने दौड़ गईं—बापू के २७ साल के सहवास व सम्पर्क की घटनाएं, जिनका साक्षी होने का सौभाग्य मुझे पूर्व पुण्य से मिला। उनके जीवन की कोई भी घटना, कोई भी व्यापार, अर्थ, उपदेश, नसीहत से खाली न था। जो घटनाएं यहां प्रस्तुत की गई हैं वे कोई-न-कोई विशेषता, शिक्षा, उद्‌बोधन लिये हुए हैं। बापू के ये पुण्य स्मरण हमारे जीवन को पवित्र व आशामय बनावें।

इनमें बापू के संवाद उन्हींकी भाषा में देना मेरे लिए असंभव था। मैंने न तो कोई नोट्स रखे थे, न डायरी ही। अतः आशय बापू का है व भाषा मेरी। इससे घटनाओं का कालक्रम भी ठीक-ठीक नहीं सध पाया। इन घटनाओं का महत्व कालक्रम में उतना नहीं, जितना इनके प्रभाव में है। ये इतिहासात्मक या चरित्रात्मक नहीं, संस्मरणात्मक हैं और लिखते समय भगवान् कृष्ण के प्रति गोपियों की यह मार्मिक व सार्थक उक्ति मुझे सदैव स्फूर्ति देती रही है—

तव कथामृतं तप्त जीवनं
कविभिरीडितं कल्मषापहम् ॥

श्रवण मंगलं श्रीमदाततम्
भुवि गुणन्ति ते भूरिदा जनाः ।।९।।

—तेरी कथा क्या है, अमृत की धारा है। तप्त लोगों को जीवन, शान्ति व शीतलता देती है। पाप-नाशिनी है। उसके सुनने मात्र से मनुष्य का मगल होता है। इसीसे कविजन उसका गान करते फिरते हैं। वे धन्य है, जिन्हें उसके गान-प्रचार का सद्भाग्य प्राप्त होता है।

गांधी-आश्रम, हटूंडी
शीतला सप्तमी, २००७

—हरिभाऊ उपाध्याय

विषय-सूची

१.	बापू की गोद में	११
२.	पुराने संस्मरण	१५
३.	रामराज्य में	१७
४.	सर्वोदय की प्रयोगशाला	२१
५.	बापू की महिमा	२५
६.	दो मजेदार घटनाएं	२६
७.	विनम्रता की मूर्ति—नाथजी	२६
८.	बापू की महानता का मूल	३०
९.	सत्याग्रही बापू	३२
१०.	धीरज और उदारता	३४
११.	आश्रम-संचालन	३७
१२.	दो अवगुणों से बरी	३८
१३.	वीर की अहिंसा	३९
१४.	अद्‌भुत सहनशीलता	४१
१५.	सूक्ष्म दृष्टि	४३
१६.	सेवा-भाव	४५
१७.	वक्त की पाबंदी	४८
१८.	आरोग्य बनाम सुन्दरता	४९
१९.	सिपाही का धर्म	५०
२०.	बापू की कुशलता	५३
२१.	पशु-पक्षियों तक के प्रति अहिंसक	५५
२२.	आश्रमियों की अहिंसा	५६
२३.	सबके प्रति सद्‌भावना	५९
२४.	साफ नीति	६०
२५.	शरणागत-वत्सल	६२

२६. आग्रही, पर एकांगी नहीं ६४
२७. विरोधी को जीतने का अद्‌भुत जादू ६५
२८. मीठी चुटकियां ६६
२९. योग्य उत्तराधिकारी ६८
३०. बापू के पुण्य प्रभाव से ७०
३१. पिता, गुरु और नेता ७२
३२. सरदार की विशेषता ७४
३३. बापू की सिखावन ७६
३४. सही सलाह ७८
३५. मीठा विनोद ८०
३६. बापू की महानता ८१
३७. लेने के देने ८३
३८. बापू की विलक्षणता ८७
३९. प्रज्ञावान बापू ९१
४०. परदुःखकातरता ९२
४१. जीत में हार ९३
४२. सच्ची नसीहत ९४
४३. संयम की शिक्षा ९७
४४. रुपये का सद्‌व्यय ९८
४५. सरल-सादे आचार्य राय ९९
४६. मेरी अहिंसा की कमी १००
४७. दूसरों की ढाल १०२
४८. सेठ जमनालालजी १०३

बापू के
आश्रम में

बापू के आश्रम में

: १ :

बापू की गोद में

१९२१ ईसवी, जूनी इंदौर का एक कुआं। अप्रैल में हम कुछ मित्र, जिनमें भाई बैजनाथजी महोदय भी थे, शाम को घूमने निकले। हम लोग अक्सर घूमने जाते व अपने भावी जीवन के सपने रचते। बैजनाथजी उन दिनों कालेज में पढ़ते थे। उनसे मेरा परिचय हुआ ही था। हम दोनों एक-दूसरे की ओर आकर्षित हो रहे थे। दोनों के विचार और भावनाए एक ही दिशा में बहती दिखाई देती थीं। प्रायः समान गुणशील थे।

बातें चल पड़ीं मेरे बारे में। मैंने इंदौर से 'मालव-मयूर' नामक एक मासिक पत्र निकालने का प्रयत्न किया था, जो कि वहां के तत्कालीन प्रधान मंत्री की 'कृपा' से असफल हो गया था। 'मालव-मयूर' के द्वारा मैं मालव-प्रदेश में ही नहीं, सारे मध्य-भारत में राष्ट्रीय व राजनैतिक जागृति करना चाहता था। अतः इस निराशा से मुझे बड़ी ठेस लगी थी। अब किसी देशी रियासत से तो पत्र निकालना असंभव मालूम होता था। इंदौर से हमें कुछ करने की आशा थी, सो चूर-चूर हो गई। अतः खंडवा से एक साप्ताहिक निकालने की योजना मन में बन रही थी। इसके मूल में शुद्ध सात्विक सेवा-भाव नहीं था। इंदौर के प्रधान मंत्री की 'खबर लेना' भी था। इसी संबंध में हम लोगों के बीच बातचीत हो रही थी। मित्रों को ऐसा लगता था कि मुझमें कुछ चमक है। पर हम अनुभव कर रहे थे कि इंदौर का

वातावरण उस चिनगारी पर राख डालने का काम कर रहा है। आसपास की दूसरी रियासतों से इंदौर फिर भी गनीमत था। वहां से एक प्रगतिशील (आज के अर्थ में नहीं) साप्ताहिक (मराठी-हिन्दी) 'मल्हारि मार्तण्ड विजय' सरकार की ओर से निकलता था। इतना होते हुए भी जब एक स्वतन्त्र मासिक को नहीं निकलने दिया तो मुझ-जैसे एक भावनाशील युवक का दिल टुकड़े-टुकड़े हो गया। यह चोट खंडवा से पत्र निकालने के लिए मुझे आतुर कर रही थी। मेरे मित्र यह मानते थे कि मैं इस काम को कर तो सकता हूं, क्योंकि अपने 'औदुम्बर' के अनुभव के अलावा मैं 'सरस्वती' में भी तीन साल काम कर चुका था। इसी बातचीत के दौरान में किसीने कहा, "तुममें चमक तो है। तुम्हारे संपर्क में जब कभी आते हैं तो अपने से तुममें कुछ विशेषता अनुभव करते हैं।" यह एहसास तो मुझे तब भी होता था, आज भी होता है। बड़े-से-बड़े व्यक्ति के साथ रहते हुए भी, उनके प्रति अत्यन्त विनम्र भाव रखते हुए भी, अपनी कुछ विशेषता का भाव मेरे मन से तिरोहित नहीं होता। मुझे कई बार संदेह होता है कि यह अभिमान का कोई रूप हो। किसीकी अच्छाई को समझ लेने व दृढ़ता से पकड़ रखने की खासियत मुझमें बहुत है। किसी भी व्यक्ति से जब मैं मिलता हूं तो थोड़े ही समय में उसमें घुल-मिल जाता हूं। उसपर मेरा कुछ प्रभाव—तेज नहीं—पड़ने लगता है। उस 'चमक' या 'विशेषता' का इसी तरह का विश्लेषण मेरा मन करता रहता है।"

मैंने कहा, "यहां का वातावरण तो अब मेरे लिए दम-घोटू हो रहा है। जो कुछ बाहर—काशी, प्रयाग, कानपुर—रहकर कमाया है, उसे बढ़ाना तो दूर, कहीं यहां खो न दूं। जैसे दूसरे लोग यहां के वातावरण में आकर दब गये, कहीं मैं भी ऐसा न हो जाऊं!"

"ऐसा होना तो नहीं चाहिए। तुममें कुछ और ही बात दीखती है।"

"मेरे मन में बड़ी अशांति व उथल-पुथल मच रही है। आगे की कोई तस्वीर नहीं बन पाती है। इससे जी भारी-भारी रहता है। आप कहते हैं, कोई विशेषता है तो फिर ऐसा अनुभव क्यों हो रहा है ? या तो आपका यह खयाल गलत है कि कोई चमक है या फिर उसके अनुकूल कोई लक्षण भी तो दीखना चाहिए।"

"हमें तो ऐसा ही लगता है कि कोई अवसर मिलना ही चाहिए।"

"हां, तभी यह सच साबित होगा कि कोई विशेषता है। भगवान् विशेषता दे ; परन्तु उसके उपयोग के लिए अवकाश या अवसर न दे, यह हो नहीं सकता।"

× × ×

शायद इसी बातचीत में यह तय हुआ कि खंडवा से एक ऐसा साप्ताहिक पत्र निकालें, जिसमें लेख-टिप्पणी तो महात्माजी के 'यंग इंडिया' से लिये जायं व दूसरी हम अपने काम की सामग्री सजा लें। इस साप्ताहिक की योजना ने ही मुझे महात्माजी, स्वर्गीय भाईजी (जमनालालजी) व साबरमती आश्रम तक पहुंचाया। मैं इस अखबार की योजना लेकर बम्बई महात्माजी की सेवा में पहुंचा। वहां श्रद्धेय भाईजी की सलाह से तय हुआ कि पत्र खंडवा से न निकालकर अहमदाबाद से निकाला जाय, वह सिर्फ 'यंग इंडिया' व 'नवजीवन' का अनुवादमात्र रहे। इस सुअवसर को मैंने अपने जीवन का अहोभाग्य ही नहीं, महान शिक्षादायक भी माना है। खंडवा से यदि पत्र निकलता तो मेरी बदले की भावना जरूर उसमें काम करती व कोई असात्विक फल लाती। भगवान को मुझे उससे बचाना था। अतः उसने महात्माजी की गोद में भेज दिया।

साप्ताहिक की योजना बनाकर मैं बंबई महात्माजी के पास पहुंचा। वह उन दिनों प्रिंस ऑव वेल्स के स्वागत-बहिष्कार

के आंदोलन में जी-जान से जुटे हुए थे। गामदेवी के मणिभवन में उनका डेरा था। श्री देवदास गांधी से सबसे पहले भेंट हुई। उन्होंने बताया कि बापूजी को आपका पत्र मिल गया है। उसका उनपर अच्छा असर हुआ है। आपका खुशखत भी उनको पसन्द आया है।

मैं जब महात्माजी के कमरे में घुसा तो वह एक छोटी-सी मसनद के सहारे गादी पर बैठे हुए थे। खुला बदन था। लम्बी धोती पहने थे। उन दिनों वह धोती, कुर्ता और टोपी पहनते थे। कमरा मिलनेवालों से घिरा हुआ था। मैं जब पहुंचा तो मौ० मुहम्मदअली आये और अपना चोग़ा बिछाकर उसपर बैठ गये। आन्दोलन की रिपोर्ट महात्माजी को सुनाने लगे। वह महात्माजी को 'सरकार' सम्बोधित करते जाते थे और इस नम्रता से उनसे बातचीत करते थे, मानो कोई सिपाही अपने सरदार से या शिष्य अपने गुरु से बात कर रहा हो। उनकी आंखों व हावभाव से महात्माजी के प्रति उनके मन में बहुत स्नेह और श्रद्धा टपकती थी। उन दिनों अली-बन्धु मुसलमानों के शेर समझे जाते थे और कांग्रेस के नेताओं में भी उनकी गिनती होती थी। किसी मुसलमान का, सो भी एक मुस्लिम अगुआ का, एक हिन्दू के प्रति इतने अदब का मेरा यह पहला ही अनुभव था। उस दृश्य को देख मैं गद्‌गद् हो गया। आज के हिन्दू-मुस्लिम-वैमनस्य के इस अन्धकार में वह दृश्य प्रकाश-किरण की तरह मेरी आंखों में छा जाता है।

मुझसे गांधीजी ने कहा, "मेरा जवाब तुम्हें मिल गया है न? तुम्हारी योजना मुझे पसन्द है। जमनालालजी से मेरी बातचीत हो गई है, लेकिन तुम अहमदाबाद से पत्र निकालो तो अच्छा है। तब मैं ज्यादा देख सकूंगा।" मुझे जहांतक याद है, जमनालालजी को भी मैंने पहले-पहल वहीं देखा। अहमदाबाद से पत्र निकालना तय हुआ। जमनालालजी ने श्री शंकरलाल बैंकर से मेरी मुलाकात करा दी और वह वहीं दौरे पर

चले गये। पन्द्रह-बीस रोज मुझे उसी सिलसिले में बंबई रहना पड़ा। बंबई भी मैं पहली ही बार आया था। उसका नाम मैंने 'ए सिटी ऑव होटल्स एण्ड साइनबोर्ड्स' रखा।

: २ :

पुराने संस्मरण

जहांतक मुझे याद है, उससे पहले महात्माजी को मैं तीन बार देख चुका था। पहली बार १९१५ में लखनऊ-कांग्रेस में। दूसरी बार, शायद उसी साल, चम्पारन से लौटते हुए कानपुर-स्टेशन पर। तीसरी बार इंदौर के हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन में। १९१८ में उस समय के मेरे संस्मरण इस प्रकार हैं :

"दिसम्बर १९१६ में लखनऊ कुछ दिनों तक राष्ट्र-भक्तों के लिए तीर्थ-स्थान हो गया था। मैंने पहले-पहल यहीं गांधीजी के दर्शन किये। उन दिनों लोग उन्हें 'कर्मवीर' कहते थे। दक्षिण अफ्रीका के सत्याग्रह ने देश का ध्यान उनकी ओर खींच दिया। भारत की सेवा करने के इरादे से वह यहां आ चुके थे। उनके दर्शन की लालसा से मैने कई धक्के खाये। कई दिन तक दौड़-धूप करने के बाद आखिर हिन्दू-सभा के मंडप में दूर से उनके दर्शन हुए। प्रथम ही दर्शन ने मेरा हृदय खींच लिया। वह भव्य दृश्य आज भी मेरी आंखों मे नाच उठता है। हिन्दू-सभा व कांग्रेस में जो उनके दस-पांच चुने हुए वाक्य मेरे कानों में पड़े व जिस गंभीरता व शांति के साथ उनके मुंह से प्रकट हुए उससे उनके आत्मतेज और आत्मविश्वास का सिक्का मेरे हृदय पर जम गया। तबसे 'लोकमान्य' के साथ ही 'कर्मवीर' ने भी मेरे हृदय के एक कोने पर अधिकार कर लिया।

"इसके बाद महात्माजी के दर्शन कानपुर स्टेशन पर किये। निलहे गोरों के अत्याचारों से बिहार की प्रजा को बचाने के उद्देश्य से महात्माजी के प्रयत्नस्वरूप एक कमीशन की

स्थापना हो चुकी थी। महात्माजी किसी जरूरी काम से पंजाब मेल से दिल्ली होते हुए गुजरात जा रहे थे। सैकिंड क्लास के एक दरवाजे के ऊपर एक नंगे सिर और नंगे पैरवाली मूर्त्ति को देखा। बदन पर एक मोटा कुरता, कमर में मोटी-छोटी धोती। उस समय उनके चेहरे पर जो निश्चय और तपस्या का तेज दिखाई दिया, वह दर्शकों के लिए चम्पारन के उज्ज्वल भविष्य का काफी सूचक था। फिर शब्दों द्वारा जब उन्होंने अपना कठोर निश्चय प्रकट किया कि या तो निलहों के अत्याचारों से प्रजा की रक्षा होगी या ये हड्डियां चम्पारन में रह जायंगी, तब तो मेरी आंखों में आंसू भर आये। इतने निर्भय व निःशंक वचन अपने कानों से सुनने का वह मेरा पहला ही अवसर था।

"१९१८ की फरवरी में इंदौर हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन का आठवां अधिवेशन था। महात्माजी सभापति बनकर आये। अब वह 'महात्मा गांधी' हो गये थे। खेड़ा ज़िले के सत्याग्रह की ओर सारे देश की आंखें लग रही थीं। इस समय महात्माजी खासे 'कैदी' बने हुए थे। उनका वही पहनावा आज भारत का राष्ट्रीय पहनावा हो गया है। चेहरा शरीर की दुर्बलता की गवाही दे रहा था; पर उत्साह व तेज देखकर लोग दंग रह जाते थे। खेड़ा-सत्याग्रह का काम अधूरा छोड़-कर वह इंदौर आये थे। सम्मेलन के अधिवेशन, विषय-समिति, सार्वजनिक भाषण तथा इतर कार्यों में दिन-रात व्यस्त रहते हुए भी उनके शरीर व दिमाग को थकते हुए किसीने न देखा, विषय-समिति में मैंने देखा कि उनकी आकलन-शक्ति अद्भुत है। थोड़े शब्दों और हाव-भाव से मन का आशय समझ लेने में वह बड़े सिद्धहस्त हैं। बड़े-बड़े विद्वान, कार्यकर्त्ता व पदवीधर लोग वहां उपस्थित थे; पर ऐसा मालूम होता था कि सब महात्माजी के सामने अपने विचार प्रकट करते हुए फीके मालूम होते हैं। महात्माजी मानो किसी अन्तर्यामी की तरह एक

दृष्टिपात में उनके हृदय का भाव समझकर नीचे देखने लग जाते थे। उस समय उनकी दृष्टि में जो भेदकता मैंने देखी उसने मुझे उनके महापुरुष होने का निश्चय करा दिया। अन्तिम दिन उन्होंने जो उपसंहारात्मक भाषण किया, उसने तो सब लोगों का मन हर लिया और प्रायः प्रत्येक के घट में उनकी मूर्त्ति प्रतिष्ठित हो गई।"

इस समय गांधीजी का सितारा तेज हो रहा था। नागपुर-कांग्रेस में देशबन्धुदास पर भी उनकी विजय हो चुकी थी। लालाजी और पंडित मोतीलालजी तो पहले ही उनके असर में आ चुके थे। इस समय वह कांग्रेस के एकछत्र नेता बन गये थे। स्व० केलकर के नेतृत्व में महाराष्ट्र में अलबत्ता विरोधी वातावरण पनप रहा था। यह साफ दीख रहा था कि कांग्रेस और हिन्दुस्तान को महात्माजी से एक नया प्रकाश और बल मिल रहा था। निहत्थे हिन्दुस्तान को इतने बड़े-बलाढ्य अंग्रेज़ी साम्राज्य से लड़ने का एक नया हथियार—सत्याग्रह—मिल रहा था। नेताओं की समझ में तो पूरा-पूरा नहीं आता था कि अहिंसा-बल या आत्मबल से कैसे एक महान शस्त्र-सज्जित राष्ट्र को पछाड़ सकेंगे? परन्तु दक्षिण अफ्रीका में हुए सत्याग्रह-विजय का नमूना उन्हें स्फूर्त्ति दे रहा था। ऐसे समय मे युवराज के स्वागत-बहिष्कार पर चर्चा करने के लिए कांग्रेस-महासमिति की एक बैठक हुई थी।

: ३ :

रामराज्य में

इंदौर में रहते हुए मैंने स्वप्न में भी कल्पना नहीं की थी कि मुझे महात्माजी के आश्रम—उनके 'रामराज्य'—में रहने का कभी सौभाग्य मिलेगा। वास्तव में पूर्वजों के पुण्य और बड़ों के आशीर्वाद का ही फल था। अतः अहमदाबाद से पत्र निकालने का सुझाव मानो किसी भूखे भिखारी के सामने

सोने का परोसा थाल आ गया हो। मैंने गद्‌गद् हो कंपित हृदय से भगवान से प्रार्थना की, "प्रभो! मेरी सब कमजोरियां दूर करना और मुझे इस पवित्र आश्रम में रहने योग्य बनाना।" एक-एक कर अपनी सारी कमजोरियां मेरी निगाह में दौड़ गई। काशी विद्याध्ययन के लिए जाते समय जैसा मैंने संकल्प किया था कि मैं एक आदर्श विद्यार्थी का जीवन व्यतीत करूंगा, वैसा ही संकल्प इस समय भी किया कि मुझसे कोई ऐसा आचरण या व्यवहार न होगा, जिससे आश्रम की महिमा को बट्टा लगे, महात्माजी को दुःख हो, उनकी आंख तक को मुझे उलहना देने का अवसर आवे।

बंबई से इंदौर लौटने के बदले में सीधा अहमदाबाद गया। बात तय हो जाने या कार्य का निर्णय हो जाने के बाद फिर उसके अमल में ढील होना मुझे बरदाश्त नहीं होता। फिर यह भी अन्देशा था कि यह स्वर्ण-अवसर कहीं हाथ से निकल न जाय। वहां स्वामी आनन्द से काम पड़ा। वे नवजीवन संस्था के तेजस्वी अधिकारी थे। कई दिनों तक मैं अहमदाबाद ही रहा; क्योंकि वहीं प्रेस और अखबारों का आफिस था। मेरा जी बार-बार करता था कि आश्रम देखूं। लेकिन वह था वहां से पांच मील दूर और शुरू में काम भी इतना अधिक रहता था और कठिनाइयां इतनी थीं कि मुझे संयम से ही काम लेना पड़ा। किसीको स्वर्ग के पास तो पहुंचा दिया हो, मगर उसमें प्रवेश करने का अवसर न मिलता हो तो जो दशा उसके मन की हो सकती है वही मेरे मन की हो रही थी। परन्तु मेरा धर्म एक सिपाही का धर्म था। सिपाही का एक-मात्र कर्त्तव्य है अपनी ड्यूटी पर डटे रहना।

महात्माजी का नाम जैसा बड़ा था, उतनी ही निराशा मुझे उनके 'नवजीवन-कार्यालय' को देखकर हुई। वह एक एकांत और गंदी गली और छोटे-से मकान में घिच-पिच

था, जिसमें दम घुटने लगता था। लेकिन जैसे कीचड़ में से कमल उपजता है और माता के रक्तपूरित गर्भ से सुन्दर सपूत पैदा होता है उसी तरह उस अंधेरे और मैले-कुचैले कार्यालय से तरुण-भारत को 'नवजीवन' मिल रहा था और भारत को 'यंग इंडिया'।

आश्रम का ध्यान आते ही दिल उसकी ओर उसी तरह झपटने और उछलने लगता है जिस तरह बछड़ा अपनी माता के रम्भाने का शब्द दूर से सुनते ही उछल-कूद करने लगता है। आश्रम मेरे लिए उस माता के समान रहा है, जिसने मुझे न केवल नवजीवन दिया, बल्कि अपना अमृत-स्तन-पान भी कराया। संसार में यदि ऐसा कोई स्थान हो सकता है, जिसके नाम का असर मुझपर जादू का-सा होता है तो वह है साबरमती का आश्रम।

यह आश्रम वह बैटरी था, जहां से केवल भारत को ही नहीं, सारे दुनिया के जिज्ञासु जनों को नवचैतन्य, नवसंदेश, नवआदर्श, नवप्रकाश की विद्युत-किरणें प्राप्त हो रही थीं। सारी दुनिया के मनस्वी लोग इस बीहड़ में बसे, कड़ी धूप में तपे, आश्रम की ओर आशा-भरी दृष्टि से देखते थे और जो कोई यहां आते थे वे यहां के देवता, यहां की विभूति, यहां के बापूजी के थोड़े ही संसर्ग में अपने को भाग्यवान और समृद्ध बनाकर जाते थे। बहुतेरे शंकाशील यहां आये और श्रद्धा का प्रसाद लेकर गये हैं और अपने सहवासियों में उसे बांटते रहे हैं। प्रखर बुद्धिशाली यहां आये हैं और उनकी बुद्धि ने हृदय के गुणों को चूमा है एवं हृदय ने बुद्धि पर विजय प्राप्त की है। निराश, दुःखी, शोकाभिभूत, संतप्त और पतित जनों को तो यह अपना ठौर मालूम होता था। बुद्ध और ईसा के बाद यदि किसीने उनको अपना प्यारा कहा है, अपना बन्दा समझा है, उनकी करुण दशा पर किसी के हृदय में तीर चुभे हैं, किसीकी आंखों से दुलार बरसा है, किसीकी आत्मा को

घोर व्याकुलता हुई है तो वह आपको इसी आश्रम एक के भोंरड़े में मिलेगी। राम की मर्यादा और कृष्ण का योग, कौशल और आकर्षण, बुद्ध का वैराग्य और दया-धर्म, ईसा का कष्ट-सहन, हरिश्चन्द्र का सत्यपालन, भीष्म की प्रतिज्ञा और अर्जुन का रण-कौशल—इनका उचित सम्मिलन बीसवीं सदी में यदि कहीं मिल सकता था तो वह इसी आश्रम के एक कोने में। देश के गरीबों की हड्डियों में थोड़ा मांस, नसों में खून की बूंदें और पेट मे दो रोटी डालने के लिए दुनिया में आजतक यदि किसीने लंगोटी लगाई है, चर्खा-यज्ञ का आविष्कार और प्राणांत होने की अवस्था तक इसका अनिमेष पालन यदि किसी ने किया है, अपने लिए नहीं, शिक्षित और बुद्धिशाली कहलानेवाले अपने मुट्ठीभर साथियों के लिए नहीं, बल्कि दुनिया के एक गरीब-से-गरीब और भिखारी-से-भिखारी के लिए स्वराज्य का कार्यक्रम बनानेवाला, उसीके लिए जीने और उसीके लिए मरनेवाला, यदि कोई था तो वह साबरमती का बूढ़ा कृश-कलेवर तपस्वी था। मेरे ही नहीं, मुझ-जैसों के ही नहीं, बल्कि मेरी राय में सारे भारत के बापू के इस आश्रम में रहने का अवसर जिसे मिला, वह अपने सौभाग्य पर जितना नाज करे, थोड़ा है। इस खुशी के बदले में कि मेरा जन्म महात्माजी के युग में हुआ, यही नहीं, उनके युग में मैं जीवित हूं, और इससे भी बढ़कर उनके चरणों मे रहने का पुण्य मिला और उनके जीवन-काल में यत्किंचित सेवा से अपने जीवन को कृतार्थ किया, अपने जीवन मे कुछ आशा, कुछ प्राण और कुछ श्रद्धा का अनुभव किया, यदि मुझे सदेह स्वर्ग मिलता हो तो मेरे नजदीक उसका कुछ मूल्य नहीं। भारत में इस समय हजारों नहीं, लाखों लोग ऐसे होगे, जिन्हें आश्रम के इस ब्रह्मा के चुम्बक का अनुभव हुआ है और जो मेरी तरह अपने को धन्य मानते हैं।

जबतक कुंजी हमारे हाथ नहीं लगती तबतक हम किसी

भवन या उपवन के सच्चे सौंदर्य का स्वाद नहीं ले सकते। आश्रम का भी अन्तःसौंदर्य देखने के लिए कुंजी हाथ लग जाने की बहुत जरूरत है। आश्रम के विधाता आत्मार्थी, मुमुक्षु, अतएव अन्तर्मुखवृत्ति वाले थे। इसलिए आश्रम का जीवन बहती हुई नदी के सदृश नहीं, बल्कि गहरे कुएं की तरह अथवा चारों ओर दुर्गम पहाड़ों से घिरे गंभीर तालाब की तरह था। बाहरी झांकी को, ऊपरी काम को देखने और उसकी कदर करनेवाले भाइयों को यदि आश्रम-जीवन बहुत अंश में अपील न करता हो तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं। ईश्वर की कृपा समझनी चाहिए, जो मुझे यह कुंजी थोड़े श्रम में मिल गई।

: ४ :

सर्वोदय की प्रयोगशाला

मेरे खयाल में आश्रम महात्माजी के सोचे हुए स्वराज्य या 'रामराज्य' या सर्वोदय की एक छोटी-सी प्रयोगशाला है। महात्माजी की आदर्श-समाज-व्यवस्था मे किसी सरकार को अर्थात् शासक-मंडल को स्थान नहीं है। समाज में हुकूमत करनेवालों की आवश्यकता का होना वे समाज की त्रुटि या कमजोरी मानते हैं। उनकी राय में समाज की सुविधा के लिए एक व्यवस्थापक-मंडल का होना काफी है। परन्तु जबतक समाज के सभ्य स्वयं ही अपने बनाये नियमों का पालन न करेंगे, पंच की मारफत अपने हर तरह के झगड़ों को न मिटा लेंगे और एक-दूसरे को नुकसान पहुंचाने, एक-दूसरे से नाजायज फायदा उठाने के बजाय एक-दूसरे के हित का पूरा-पूरा खयाल न रखेंगे, एक-दूसरे की सहायता न करेंगे, अपना-अपना भला सोचने के बजाय एक-दूसरे का भला सोचने की आदत न डालेंगे तबतक समाज में ऐसी संस्था और ऐसे लोगों की जरूरत रहेगी जो अपनी सत्ता के बल पर लोगों को सुख-शांति से रहने और

अपनी उन्नति करने पर मजबूर करें। अपने और समाज के हित के कामों को स्वयं खुशी-खुशी करने के बजाय किसी संस्था या व्यक्ति के दंड के भय से मजबूर होकर करने में मनुष्य का कुछ भी गौरव नहीं है, परन्तु जबतक मनुष्य इस सिद्धांत को अच्छी तरह समझ नहीं लेता, अपने गौरव का यथार्थ मूल्य आंकना सीख नहीं लेता और इसमें अपना अपमान समझने नहीं लगता, तबतक सत्ताधारियों की जगह समाज में जरूर रहेगी और समाज की यह आदर्श अवस्था यदि अच्छी चीज है, यदि व्यक्ति और समाज के सर्वांगीण विकास के लिए ऐसी आदर्श अवस्था अनुकूल और सहायक है तो समाज के जिन धुरीणों ने इस बात को पहचान और समझ लिया है उनका यह कर्त्तव्य हो जाता है कि वे समाज को उस दिशा में ले जाने की, समाज में उन गुणों की वृद्धि करने की चेष्टा करें। यह काम तभी कुछ सफल हो सकता है जब इस आदर्श को पसन्द करनेवाले लोग एकत्र होकर, एक जगह रहें और अपनी मनचाही आदर्श अवस्था को ध्यान में रखकर तदनुसार अपने और अपने साथ रहनेवालों के जीवन को बनाने का यत्न करें। जहांतक मैंने समझा है, महात्माजी ने सत्याग्रह-आश्रम की स्थापना करके समाज को अपने आदर्श की दिशा दिखाने के प्रयोग का आरम्भ किया था।

आश्रम में उस समय कोई २५० स्त्री-पुरुष और बालक रहते थे। बालकों की शिक्षा के लिए एक विद्या-मंदिर भी था। आश्रमवासियों के उपयोग के लिए एक गोशाला और कोठार भी था। दुग्धशाला और चर्मालय भी खुला था, जोकि गो-रक्षा के प्रयोग-रूप थे। खेती और कताई-बुनाई तो थी ही। सुबह-शाम को प्रार्थना एक आध्यात्मिक भोजन और सामाजिक सम्मेलन का काम देती थी। इन सब कामों के लिए वहां कोई शासक-संस्था नहीं, सिर्फ व्यवस्थापक मंडल था, जिसको आश्रमवासियों ने चुनकर बनाया था। आश्रम के नियमों और

व्यवस्थापक-मंडल के प्रस्तावों का पालन लोग अपनी जिम्मेदारी समझकर करते थे, किसी सत्ता या दंड के भय से नहीं। दंड का स्थान वहां प्रायश्चित्त ने लिया था। प्रायश्चित्त स्वयं किया जाता है, दंड दूसरा देता है। वहां आश्रम में अपनी भूल मालूम होने पर स्वयं प्रायश्चित्त करते थे और प्रायश्चित्त के बाद वे आश्रम में अप्रतिष्ठा की दृष्टि से नहीं देखे जाते थे। कोई दूसरा उन्हें प्रायश्चित्त करने पर मजबूर नहीं करता था। मुखिया अथवा व्यवस्थापक-मंडल उनको उनकी भूल बता देता था। छोटे-छोटे बालकों और विद्यार्थियों तक को ऐसी आदत डालने की कोशिश की जाती थी कि उनकी शिक्षण-प्रणाली में न दंड को स्थान था, न लोभ को। आश्रमवासी कोई काम न दंड के भय से करना पसन्द करते थे और न पारितोषिक के प्रलोभन से। वे अपना कर्त्तव्य समझकर, फिर वह चाहे कड़ुआ हो या मीठा, उसे करना पसन्द करते थे। वहां विचार करने और उसे प्रकट करने की पूरी स्वाधीनता थी; पर साथ ही बुरे विचार मन में न आने देने तक की सावधानी रखने का प्रयत्न किया जाता था और ऐसा होने पर प्रायश्चित्त करने में देरी नहीं की जाती थी। आश्रमवासी जितना ही अपने को स्वाधीन समझते थे, उतना ही संयमशील रहने का भी प्रयत्न करते थे। स्वाधीनता के भाव की वृद्धि के साथ-ही-साथ संयम के भाव की भी वृद्धि करना जरूरी है। आश्रम में स्त्री-पुरुषों के कर्तव्यों, कार्यों और अधिकारों में पूरी समानता है। कोई भी स्त्री किसी आश्रमवासी से स्वतन्त्रता के साथ मिल सकती है, बातचीत कर सकती है। साथ रहकर काम कर सकती है; परन्तु इस जिम्मेदारी और भाव के साथ रहने की कोशिश करते थे कि हम भाई-बहन हैं। जो मनुष्य जितना ही अधिक संयमी होता है, वह उतना ही अधिक स्वाधीनता का अधिकारी अपने को मानता है। दंड और प्रलोभन ये सरकारों के मुख्य शस्त्रास्त्र होते हैं। इन दोनों से बचने की कोशिश आश्रम में की जाती थी। सहिष्णुता, उदारता, सेवा,

सहयोग का भाव, स्वावलम्बन, सादगी, सरलता, सचाई, तेजस्विता-जात-नम्रता, ये वे मुख्य गुण हैं, जिनके विकास पर ही समाज राजसत्ता के बोझ से बच सकता है। एक और वृत्ति भी है, जिसके अभाव को राजसत्ता की नींव कहना चाहिए। वह है दूसरे के प्रति अपने कर्तव्य का यथावत् पालन करना; परन्तु यह न चाहना कि हम तभी अपने कर्त्तव्य का पालन करेंगे जब दूसरा भी हमारे प्रति अपने कर्तव्य का पालन यथावत् करेगा। हमारा काम है अपने कर्तव्य का पालन करना। दूसरा यदि नहीं करता है तो वह मनुष्य और ईश्वर के सामने दोषी है। उसकी देखा-देखी यदि हम भी उस दोष को अपनाने लगें तो दोनों में मनोमालिन्य और संघर्ष पैदा होगा और यही स्थिति शासक-मंडल को जन्म देनेवाली होती है। आश्रम के संचालकों ने इसे खूब समझ लिया था और इसलिए वे जो कुछ करते थे, निरपेक्ष होकर करना चाहते थे। सापेक्ष्य भाव को वे वणिक्-वृत्ति मानते थे। आदर्श समाज और व्यवस्था के लिए ब्राह्मण-वृत्ति की आवश्यकता है। ब्राह्मण-वृत्ति का अर्थ है ज्ञान, त्याग और सेवा। इस वृत्ति को प्राप्त करने की चेष्टा आश्रमवासी करना चाहते थे।

शोहरत और बनावट सच्चे और पुख्ता काम के भयंकर शत्रु हैं। इसलिए आश्रमवासी इन दोनों से बचना चाहते थे और इसी-लिए बाहरी बातों को देखनेवाले आश्रम की सादगी में विशेषता नहीं पाते थे। पालिश की हुई चीजों को देखने की जिसे आदत पड़ रही है उसे खान का निकला स्वाभाविक शुद्ध सुवर्ण एकाएक नहीं जंच सकता। आश्रम में अच्छे संस्कार तो माने जाते थे; पर उनको लोकाचार का रूप नहीं दिया जाता था। वे उनकी उन्नति के लिए, विकास के लिए किये जाते थे, दुनिया की नजर में भला और बड़ा बनने के लिए नहीं। आश्रमवासी बालकों एवं अन्य सभ्यों में शहर के रहनेवाले लोगों की बनावटी व्यवहार-चातुर्य की जो कमी बाज लोगों को खटकती है, उसका

कारण है आडम्बर और मिथ्या लोकाचार की ओर अरुचि।

आश्रम-जीवन का अध्ययन करने के लिए, उसका मर्म समझने के लिए आश्रम के हृदय को समझना जरूरी है, उसकी तह में गोते लगाने की आवश्यकता है। चर्म-चक्षुओं से नहीं, अन्तरात्मा के चक्षुओं से देखने की यह चीज थी। मैंने इसी तरह उसे देखने का यत्न किया है।

: ५ :

बापू की महिमा

जब मैं पूज्य बापू के चरणों में पहुंचा तब युवराज के स्वागत-बहिष्कार-आन्दोलन की धूम थी। विदेशी कपड़ों की होली पहली बार बम्बई में जलाई गई थी और जगह-जगह होलियों का तांता लगने लगा था। गांधीजी एक तूफानी जीव थे। उन्हीं दिनों ग्वालियर के स्वर्गीय महाराजा ने एक जगह कहा था कि यह महात्मा अद्भुत आदमी है। नाम शान्ति का लेता है और जहां कहीं जाता है वहां अशांति मचाता है। यह एक अर्थ में ठीक ही था, क्योंकि महात्माजी शुरू से आखिर तक क्रान्तिकारी थे। जीवन का कोई अंग या क्षेत्र ऐसा नहीं था, जिसे उन्होंने छुआ न हो, जिसमें उन्होंने क्रान्ति की प्रेरणा न की हो, उथल-पुथल न मचाई हो। अतः हर किस्म के लोगों का तांता उनके पास लगा रहता था। विरोधी और अनुयायी दोनों उनको घेरे रहते थे। वे समय की पाबन्दी के साथ ही मर्यादा-पालन का बड़ा खयाल रखते थे। शिष्टता व नम्रता के तो वे अवतार ही थे। अपनी बात पर दृढ़ रहकर भी सामनेवाले के प्रति अत्यन्त सभ्यता, सौजन्य व सद्भाव रखना उनका स्वभाव-धर्म हो गया था। उन्हीं दिनों एक दिन बम्बई में कुछ पारसी महिलाएं महात्माजी से मिलने आईं। मणिभवन का उनका छोटा-सा कमरा भेंट करनेवालों से भरा हुआ था। महात्माजी को जल्दी ही कहीं—शायद किसी सभा में—जाना था। पारसी बहनों को वे स्वदेशी व खादी का महत्व समझा रहे थे।

इतने में उस सभा से संबंधित कोई भद्र पुरुष उन बहनों के बीच में घुसकर महात्माजी से बातचीत करने लगे। उन्हें जल्दी थी, शायद सभा के सिलसिले में ही कोई जरूरी बात महात्माजी से करनी थी। लेकिन उनका यह बीच में दखल देना, खासकर बहनों के बीच में घंसकर, महात्माजी को नहीं सुहाया। उन्होंने जरा आंख तरेरकर पूछा—"क्यों, क्या बात है ?"

वे सहम गये। बोले, "बापू, कुछ जरूरी बात पूछनी है।"

"हां, मगर कुछ विवेक भी तो रखना चाहिए न ?" उन्होंने कुछ तेज स्वर में कहा।

वे सज्जन पसीना-पसीना हो गये। मैंने इससे सबक सीखा।

बहुत करके उन्हीं दिनों मैंने एक घटना किसी से सुनी थी। मणिभवन के एक घाटी[1] को किसी देश-भक्त ने, जो महात्माजी के निकटवर्तियों में से था, किसी बात पर थप्पड़ मार दिया था। महात्माजी को खबर लगी तो दोनों को बुलवाया और कहते हैं कि महात्माजी ने उन महाशय से घाटी की माफी मंगवाकर प्रायश्चित्त के तौर पर उसे साष्टांग नमस्कार करवाया। उन्हें यह सहन नहीं हुआ कि एक सभ्य, शिक्षित, देशभक्त कहलानेवाला व्यक्ति एक नौकर तक पर हाथ उठावे, उसका इतना अपमान करे। मनुष्यता में वे सबको बराबर मानते थे। शरीरश्रम को जीवन में वे प्रधानता देते थे और इसीलिए जो शरीर-श्रम करते हैं, उनके प्रति वे वैसा ही समभाव रखते थे जैसा कि पढ़े-लिखे नागरिकों के प्रति।

: ६ :

दो मजेदार घटनाएं

कई बार महात्माजी के सामने आकर लोग हतप्रभ हो जाया करते थे। जो कुछ सोच-साचकर आते थे, भूल जाते थे और कुछ-का-कुछ कहने लगते थे। इस तरह की दो घटनाएं मेरे सामने हुई

१. बम्बई में घरेलू नौकरों को घाटी कहते हैं।

हैं। एक तो इन्ही दिनों बंबई की है। एक गुजराती सज्जन स-पत्नीक मिलने आये। शायद विलायत से आये थे। सूट-बूट से लैस। महात्माजी किसी काम से उठ खड़े हुए थे—शायद कमरे के बाहर जा रहे थे कि दरवाजे पर ही इस महापुरुष से भेंट हो गई। खड़े-खड़े ही बातें होने लगीं। उन्होंने अपना परिचय दिया कि जब आप इंग्लैंड में थे तब गुजरातियों की ओर से एक सभा बुलाई गई थी, जिसमें आपका भाषण हुआ था। उसका मैं ही सेक्रेटरी था। महात्माजी कुछ याद करने लगे। इतने ही में वे फिर बोले, "उस सभा में आपने इंग्लैंड के गुजरातियों से कहा था कि यहां आपको आपस में अंग्रेजी में ही बातचीत करना चाहिए।"

महात्माजी को सुनकर ताज्जुब हुआ। पूछा—"मैंने क्या कहा था ?"

"यह कि.....अंग्रेजी में ही बातचीत करना चाहिए।"

"क्या 'अंग्रेजी में' कहा था ?"

"जी हां !"

"तो फिर वह कोई दूसरा गांधी रहा होगा। मैने तो यह कहा था कि यहां गुजरातियों को गुजराती में बातचीत करना चाहिए।"

अब तो वे साहब अपनी भूल समझ गये। बहुत झेंपे और कहने लगे, "साहब बड़ी भूल हुई। मैं उलटा कह गया।"

उस समय का दृश्य विचित्र था। वे साहब अप-टू-डेट अंग्रेजी लिबास में थे। महात्माजी सिर्फ गुजराती ढंग की धोती पहने हुए थे, सारा बदन नंगा था। उस समय कच्छ या लंगोट-जैसी धोती पहनना शुरू नहीं किया था। पश्चिमी व पूर्वी सभ्यता के खासे दो नमूने थे। मुझे जहां तक याद है, साहब अंग्रेजी बोलते थे, गांधीजी गुजराती में जवाब देते थे। गांधीजी का यह स्वदेशी-धर्म या मातृ-भाषा-प्रेम देखकर मैं गद्‌गद् हो गया।

एक दूसरी घटना वर्धा की है। एक लड़की महात्माजी के पास आश्रम में रहती थी। उसके पिता ने उसकी शादी लड़की की इच्छा के खिलाफ कहीं तय कर दी। उस समय लड़की पिता के

पास थी। वह चुपके से भागकर महात्माजी के पास आ गई। माता-पिता समझ गये कि आश्रम में गई होगी। उनका बड़ा क्रोध-भरा पत्र महात्माजी के पास आया। लिखा कि हम सारा किस्सा आपको सुनाने और लड़की को लिवाने वर्धा आ रहे हैं। महात्माजी की तरफ से स्व० श्रद्धेय जमनालालजी उनको लेने स्टेशन गये। माता-पिता दोनों रात के वक्त सत्याग्रहाश्रम (वर्धा) के ऊपर वाले कमरे में महात्माजी से मिले। महात्माजी ने उस समय लड़की को भी वहां बुला लिया था। जमनालालजी दोनों को लेकर कमरे में दाखिल हुए। दम्पति ने बड़े भक्तिभाव से सिर टेककर महात्माजी को प्रणाम किया। महात्माजी ने हँसकर उनके प्रणाम का उत्तर देते हुए पूछा—"रास्ते में किसी प्रकार का कष्ट तो नहीं हुआ ?"

"नहीं महात्माजी, यहां आने में कष्ट कैसा ! यह तो हमारा अहोभाग्य है कि आपके दर्शन हुए।"

"अच्छा...को लिवाने आये हो। ले जाओ ! यह सामने बैठी है।"

"नहीं, यह तो आपकी बेटी है, यहीं रहेगी।"

"तो फिर ठीक है, यहीं रहेगी।" हँसते हुए उन्होंने जवाब दिया और लड़की की ओर मुखातिब होकर कहा, "...तो तुम यहीं रहो। देखो, पिताजी जबतक यहां रहें, इन्हें किसी बात का कष्ट न हो। इनकी खूब सेवा करना।"

जमनालालजी और हम लोग हक्का-बक्का रह गये। समझ रहे थे कि आज बापू के सामने कोई दृश्य जरूर होगा, लड़की की कुछ मुसीबत होगी, बापू को कुछ बुरा-भला सुनना पड़ेगा। पर बात बिलकुल उलटी हुई। उनका गुस्सा न जाने कहां चला गया। जो लड़की को लेने आये थे सो उलटा देकर चले गये। यह बापू की अहिंसा की पूर्ण विजय थी—चमत्कार था। विरोधी मित्र बन गया। अक्रोध ने क्रोध को जीत लिया। शाप वरदान होकर सामने आया।

: ७ :

विनम्रता की मूर्ति : नाथजी

मैं व भाई बैजनाथजी अहमदाबाद गये ही थे। स्वामी आनन्द के चलाये 'नवजीवन क्लब' में रहते थे। जिस कमरे में हम लोग बैठा करते थे उसीमें एक दिन एक हृष्ट-पुष्ट गोरा-सा व्यक्ति आया। मोटी खादी की धोती, वैसा ही कुरता, टोपी, बगल में एक बड़ा-सा झोला। शायद एक ही दिन वह वहां रहा। उन दिनों स्वयंसेवकों की भर्ती चल रही थी। हमने समझा, कोई स्वयंसेवक देहात से आया है। उसकी बातचीत, व्यवहार से किसी विशेषता का कोई आभास नहीं मिलता था। चेहरा अलबत्ते शान्त व तेजस्वी था। एक तो वह अपरिचित व्यक्ति, दूसरे हमें अपने काम से काम था। हमने उसकी तरफ कोई ध्यान नहीं दिया। उठने-बैठने आदि में मामूली स्वयंसेवक की तरह ही हमने उसके साथ व्यवहार किया। उसने भी हमारे इस व्यवहार पर अपनी नाराजगी नहीं झलकाई, कभी संकेत में भी उलाहना नहीं दिया।

एक-दो दिन के बाद स्वामी आनन्द ने हमसे कहा—"चलो, आश्रम चलेंगे। वहां नाथजी आये हैं।" हमने पूछा कि नाथजी कौन हैं? उन्होंने कहा, किशोरलालभाई के गुरु हैं। हमारी श्रद्धा बढ़ी। साबरमती-आश्रम में किशोरलालभाई के घर हम गये। वहां बड़े आदर के स्थान पर एक परम शान्त और तेजस्वी मूर्ति को देखा। देखते ही हम सकपका गये। अरे, यह तो वही हैं, जिन्हें हमने एक मामूली स्वयंसेवक समझा था। अब हमें काटो तो खून नहीं। हमने लज्जित होकर उनसे क्षमा मांगी। उन्होंने कहा—"आप लोगों ने मुझे मामूली आदमी समझा, सो ठीक ही था। किशोरलालभाई मुझे गुरु मानते हैं तो क्या मै सबका गुरु हो गया? और गुरु होना भी कोई बड़ी बात नहीं है। मुझे आध्यात्मिक विषयों का कुछ अनुभव है। उनसे किशोरलालभाई को लाभ

हुआ, उनकी गुत्थी सुलझ गई तो इसमें कौन बड़ी बात है ? इसमें मैंने किया ही क्या ? साधारण मनुष्य का कर्तव्य एक-दूसरे को सहायता देना है। वही तो मैंने किया। इसमें मै अपनी क्या विशेषता या बड़प्पन समझूं ! आप लोगों को सकुचाने की जरूरत नहीं है।" इस आशय के उनके उद्‌गारों ने तो हमारा हृदय और भी जीत लिया। बापू के आश्रम में यह तो बापू-सा ही विनयशील व मानवता का दूसरा नमूना देखने को मिला। जब कभी भी बाद में हम लोग पूज्य नाथजी से मिले हैं और आदरपूर्वक झुककर प्रणाम किया है तो उन्होंने उसपर उलाहना दिया है। जब हम लौटे हैं तो खुद उठकर दरवाजे तक पहुंचाने आये हैं। हमारे मना करने पर भी वे इस नियम या स्वभाव का पालन बराबर करते हैं। सच्ची विशेषता वह है, जिसे दूसरे अनुभव करें, किन्तु हम उससे अनजान रहें।

मुहम्मद पैगम्बर के जीवन-चरित में मैंने पढ़ा है कि जब वे जमात में बैठते तो नये आदमी को सहसा पहचानना मुश्किल होता था कि हजरत मुहम्मद कौन से हैं। ऐसी साधारण वेश-भूषा व रहन-सहन उनकी थी। वे अपने घुटने सिकोड़ कर बैठते थे कि पास वाला व्यक्ति संकोच से सिकुड़ कर न बैठे। उसे बैठने के लिए काफी जगह मिले।

: ८ :

बापू की महानता का मूल

बापूजी विनय के अवतार थे। वैसे वे जीते जी ही बिन्दु से सिन्धु हो गये थे; परन्तु मरने के बाद तो सिन्धु से विभु हो गये। पहले जो विशाल समुद्र था वह अब व्यापक आकाश हो गया। यह हुआ उनके रजकण बनने की साधना से। वे कहा करते थे कि मनुष्य को महान बनने के लिए रजकण बनना चाहिए। उन्होंने अपने जीवन में रजकण बनने की जबरदस्त साधना की। उन्होंने बड़े-बड़े और अद्भुत काम कर डाले; परन्तु कई बार उन्होंने

कहा कि मैं अपने को खोखला पाता हूं। भगवान की शक्ति से ही मैं ऐसे प्रचण्ड काम कर पाता हूं। जो रजकण या शून्यवत् बन जाता है वही भगवान की शक्ति को पा सकता है। महात्माजी को सब लोग केवल बड़ा नेता ही नहीं, बल्कि महापुरुष मानते थे। उन्होंने भारतवर्ष में मिट्टी से महापुरुष पैदा कर दिखाये। स्व० हकीम अजमलखां उन्हींके समय में नेता हुए थे; बल्कि यह कहें तो हर्ज नहीं कि वे उनके ही बनाये हुए नेताओं में से थे। एक बार वह महात्माजी के आश्रम—सत्याग्रह आश्रम साबरमती—में गये। जहां तक मुझे याद है, यह १९२४-२५ की बात है। शाम का समय था। आश्रम में शाम को सूर्यास्त के पहले ही खा लेने का रिवाज था। हकीम साहब को महात्माजी के यहां खाना खाना था। महात्माजी की कुटिया में पूज्य बा खाना बना रही थीं और बापूजी खुद ला-ला कर परोस रहे थे। खाना बनाने वाले या परोसने वाले दूसरे लोग न हों सो बात नहीं थी। महात्माजी ने इस अतिथि का सत्कार इस रूप से करना ही ठीक समझा था। एक शरीफ मुसलमान को आर्य-आदर्श का नमूना बताना था। महात्माजी के मन में हिन्दू-मुसलमान भेद जैसी कोई चीज नहीं थी। फिर भी हिन्दुत्व का उत्तम आदर्श अपने जीवन के द्वारा उपस्थित करना उन्हे बहुत प्रिय था। इसमें उनकी अतिथि-सत्कार की भावना ही नहीं, अपने को रजकण बनाने की साधना भी समाविष्ट थी। जब हकीम साहब खाना खा चुके तो बापूजी खुद लोटा लेकर हाथ धुलाने लगे। उस समय मैं वहां मौजूद था। और भी दो-तीन आश्रमी थे। मेरे मन में आया कि बापूजी के हाथ से लोटा ले लूं; परन्तु जल्दी में सूझा नहीं कि क्या करूं? मैं बापूजी की इस महानता पर मन-ही-मन मुग्ध हो रहा था। इतने में ही एक और घटना हुई, जिसे देखकर मैं हैरान रह गया।

खाना खाकर हकीम साहब आश्रम के बरामदे से नीचे उतरने लगे। पत्थर की दो-तीन सीढ़ियां थीं! शाम का समय था। हकीम साहब को कुछ रतौंध आती थी। महात्माजी उनका हाथ

पकड़ कर सीढ़ी की तरफ बढ़े। हकीम साहब के जूते सीढ़ी की तरफ रखे हुए थे। उनका मुंह घर की तरफ था। मैं हकीम साहब और महात्माजी के ठीक पीछे-ही-पीछे सीढ़ी उतर रहा था। मेरे मन में आया ही था कि आगे लपक कर जूतियों का मुंह सीधा कर दूं। इतने में ही महात्माजी ने अपना हाथ आगे बढ़ाया और दोनों जूतियां उठाकर सीधी कर दीं और एक सीढ़ी के ऊपर उनके पहनने के लिए रख दी। मैं मन में शर्मिन्दा तो हुआ ही; पर महात्माजी की इस विनयशीलता पर कुर्बान भी हो गया। मैने मन में सोचा कि कम-से-कम जूतियों के लिए तो महात्माजी हममें से किसीको इशारा कर ही सकते थे; परन्तु यह गौरव उन्होंने खुद ही लिया। अपने को ही उसका अधिकारी समझा। हम छोटे लोग ऐसे समय में अपने से छोटे लोगों से ऐसा काम लेते हैं और समझते हैं कि इस तरह हमने अपने बड़प्पन की रक्षा की। परन्तु महात्माजी को तो असली महानता प्राप्त करनी थी—रजकण बनना था। यह घटना और महानता का यह आदर्श मेरे मन में सदा के लिए अंकित हो गया। जब कभी छोटा या हल्का काम करने के अवसर आते हैं तब यह घटना हृदय में अपूर्व प्रेरणा और बल देती रहती है। महात्माजी के प्रचण्ड कामों ने उन्हें इतना बड़ा नहीं बनाया, जितना उनके जीवन की इन छोटी-छोटी घटनाओं ने। वास्तव में इन छोटी घटनाओं में जीवन के ऐसे एकान्तिक प्रसंगों में ही मनुष्य के विशाल और महान बनने के बीज समाये रहते हैं।

: ९ :

सत्याग्रही बापू

१९२१ में अहमदाबाद-कांग्रेस हुई। प्रतिनिधियों आदि के लिए जो स्थान पण्डाल आदि बनाये गए थे, वे सब खादी के थे। अतः उसका नाम खादी-नगर रक्खा था। कांग्रेस के इतिहास में खादीमय नगरी का वह पहला दृश्य था। देशबन्धुदास सभापति

होने वाले थे; किन्तु वे तथा पं० मोतीलालजी नेहरू, जो उस समय शायद कांग्रेस के प्रधान मंत्री थे, गिरफ्तार कर लिये गए थे और हकीम अजमलखां सभापति हुए थे। इन गिरफ्तारियों के कारण इस अधिवेशन में बड़ी सनसनी फैली हुई थी। लोगों के जोश-खरोश का ठिकाना नहीं था। युवराज के स्वागत-बहिष्कार के सिलसिले में सत्याग्रह—सविनय-कानून-भंग—आन्दोलन चल रहा था; परन्तु सत्याग्रह के सिद्धान्त व नियम अभी सबकी समझ में पूरे-पूरे नहीं आये थे। सत्याग्रह का एक नियम यह भी है कि जेल चले जाने के बाद हमारी नागरिक मृत्यु हो जाती है। बाहर के कामों में दखल देने लायक हम नहीं रह जाते। अतः सत्याग्रही कैदियों के लिए यह नियम व आदेश था कि वे जेल में से बाहर के आन्दोलनों या दूसरे कामों के लिए हिदायत, सूचनाएं या आदेश न दें। बाहर के काम बाहर रह जाने वालों की जिम्मेदारी पर छोड़ दें; क्योंकि बाहर की परिस्थिति को वे जानते या जान सकते नहीं और बाहर वाले उनसे आजादी से मिलजुल कर बातचीत कर सकते नहीं। ऐसी दशा में इस प्रकार जेल से आन्दोलन चलाने में सिवाय हानि के कोई लाभ नहीं; किन्तु इसके विपरीत उस अधिवेशन के मौके पर कई नेताओं ने अपने-अपने विचार व सूचनाए महात्माजी तक पहुंचाई। जहांतक मुझे याद है, इसमें देशबन्धु, पं० मोतीलालजी व मौ० आजाद भी थे। जब ये संदेसे गांधीजी तक पहुंचे तो उन्होंने कहा, "ये सब हमारे बड़े नेता हैं, परन्तु नागरिक के नाते अब उन्हें कुछ सुझाने या करने का हक नहीं है। हम इनकी बातों पर गौर नहीं कर सकते। हम बाहर हैं, जो सारी परिस्थिति को जानते हैं। हम जैसा ठीक समझेंगे, निर्णय करेंगे। उन्हें हम लोगों पर विश्वास रखकर जेल में शान्त व निश्चिन्त रहना चाहिए।" कितने निर्भय होकर गांधीजी ने बड़े-बड़े नेताओं के हस्तक्षेप के प्रभाव से अपने को किस दृढ़ता से बचाया, यह देखने योग्य है। इसमें केवल उनके नेतृत्व का ही नहीं, बल्कि सच्चे सत्याग्रही का गुण टपकता है।

इसी अधिवेशन में उनकी व्यवहार-कुशलता व सत्याग्रही इलाज का नमूना देखिए। महासमिति (A. I. C. C.) की बैठक हो रही थी। कलकत्ते के एक कार्यकर्त्ता श्री बडे, गोरक्षा में बहुत दिलचस्पी लेते थे। भले व सच्चे आदमी थे। गोरक्षा पर किसी ने कोई प्रस्ताव भेजा था। जहां तक मुझे याद है, कानून गोहत्या बन्द करने के सम्बन्ध में था। गांधीजी ने राय दी कि यह प्रस्ताव कांग्रेस में लाना मौजूं न होगा। इसपर बड़े साहब जिद पकड़ गये कि यह प्रस्ताव लेना ही होगा। हकीम साहब सदर थे और महात्माजी उनकी मदद कर रहे थे। सदर साहब ने बड़े साहब को जिद छोड़ने के लिए व बैठ जाने के लिए कहा। दो-तीन बार उनके मना करने पर भी वे खड़े-खड़े कहते ही रहे, यह प्रस्ताव लेना ही पड़ेगा। तब सदर साहब ने मजबूर होकर कहा कि आप मेरा आदेश नहीं मानते हैं तो सभा छोड़कर चले जाइए। उसपर भी उन्होंने कहा कि मैं नहीं जाऊंगा। दो-तीन बार ऐसा हुक्म दिया गया; पर वे टस-से-मस न हुए। अब सभा में हलचल शुरू हुई। क्या इन्हें पकड़ कर या पुलिस बुलाकर हटाया जाय? लोग उन्हें हटाने की दिशा में ही तरह-तरह के उपाय सोचते थे; किन्तु गांधी जी ने एक नया ही सत्याग्रही उपाय सोचा। 'बुराई के साथ सहयोग नहीं करना चाहिए' इस नियम या सिद्धान्त में से वह उपाय निकाला। उन्होंने सभी सदस्यों से अनुरोध किया कि यदि श्री बडे सभा-स्थान से नहीं हटते हैं, सभापति के आदेश का पालन नहीं करते हैं, तो हम सब यहां से हट जायं। सब सदस्य व दूसरे लोग उठकर चले गये, अकेले बड़े साहब खड़े रह गये। इस अनुशासन व सत्याग्रही-प्रतिकार-विधि का लोगों पर बड़ा असर हुआ। सब महात्माजी की मौलिकता, सूझ-बूझ की सराहना करने लगे।

: १० :

धीरज और उदारता

अहमदाबाद-कांग्रेस के बाद महात्माजी ने तय किया कि

(ब्रिटिश) सरकार को एक साल की अंतिम चेतावनी दी जाय। इस बीच स्वराज्य की मांग पूरी न हुई तो बारडोली में सामूहिक सत्याग्रह शुरू कर दिया जाय; परन्तु चौरी-चौरा काण्ड के बाद उन्होंने सत्याग्रह स्थगित करने की घोषणा की। कार्यसमिति में स्थगितता का प्रस्ताव स्वीकृत हो चुका था व दिल्ली की महा-समिति में उसका समर्थन कराना था। उसमें महात्माजी का कस-कर विरोध हुआ। खासकर सत्याग्रह स्थगित कर देने के लिए ज्यादातर लोग यह मानते थे कि कहीं किसी जगह हिंसाकाण्ड हो जाने से सुदूर बारडोली का सत्याग्रह-कार्यक्रम क्यों रोका जाय? और यह तो संभव ही नहीं है कि इतने बड़े देश के किसी कोने में भी हिंसा-कार्य न हो, जबकि सत्याग्रह के द्वारा इतनी हलचल लोगों में मच रही हो। श्री केलकर (अब स्व०) व उनके समर्थकों ने महात्माजी को खूब आड़े हाथों लिया। जब अहमदाबाद में दिल्ली की ये खबरें पढ़ीं तो मुझे बड़ा दुःख हुआ। इतना विरोध होने पर भी आखिर जीते महात्माजी ही। किन्तु उसमें मैंने दो नतीजे निकाले—(१) लोग महात्माजी के अहिंसा-सिद्धान्त को समझे नहीं हैं और (२) महात्माजी को भी वे एक चालबाज आदमी एवं अहिंसा को एक बहाना मानते हैं। अतः, जब महात्मा-जी साबरमती लौटे तो मैंने उनसे कहा, "बापू, अबकी तो दिल्ली में आपका बहुत विरोध हुआ। मुश्किल से आपकी जीत हुई! यह तो शुभ चिह्न नहीं है।" उन्होंने कहा—"विरोध से तो मैं खुश होता हूं। खुला विरोध मुझे बहुत अच्छा लगता है। विरोध को मैं अशुभ चिह्न नहीं मानता। इस विरोध से मुझे विश्वास हो गया कि भारत के देशभक्त किसीसे दब नहीं सकते। जब मेरा मुकाबला करने को तैयार हैं, जिसपर उनकी इतनी श्रद्धा है तो फिर किससे दबेंगे? लेकिन बावजूद इस विरोध के लोगों ने वोट मेरे पक्ष में दिये। शब्दों से मेरा विरोध करते थे; परन्तु कृति में मेरे साथ हुए। इससे मुझे ज्यादा दुःख हुआ। मेरे विचारों को नापसंद करके मेरे प्रेम के लिए मेरे साथ वोट देना मैं कमजोरी

मानता हूं और इससे मुझे अपनी सही शक्ति का अन्दाज नहीं होता।"

मैंने बापू से कहा, "मालूम होता है, लोग आपकी अहिंसा नहीं समझते। आपको भी वे एक चालाक आदमी मानते हैं, जो अहिंसा की ओट में अपना काम करता है। इसीसे आपके इस कदम को समझ नहीं पाते और आपकी आलोचना करते हैं। अत: ज्यादा अच्छा यह हो कि आप सिर्फ दो बातों को लेकर सारे देश में जनता के पास जाइए। एक खादी, दूसरी अहिंसा—एक शरीर दूसरा प्राण। जबतक लोग इसे नहीं समझेंगे, आपकी कठिनाई सदा बनी रहेगी।"

उन्होंने कहा—'मैं एक बार जनता में हो आऊंगा—दो बार हो आऊंगा, मगर जिनका सदा जनता से संपर्क रहेगा वे तो हैं मेरे साथी दूसरे नेता व कार्यकर्ता, जो अपनी मर्जी के मुताबिक मेरी बातों का अर्थ जनता के सामने करते रहेंगे। अत: जबतक साथी लोगों को अच्छी तरह न समझा सकूं, सीधे जनता तक जाने में ज्यादा लाभ नहीं, क्योंकि अर्थ का अनर्थ करना न करना साथियों के हाथ में है।"

मैंने कहा, "साथियों के समझने का काम तो बड़ा विकट है। उनकी हालत देखकर तो निराशा होती है।"

बापू हँसकर बोले—"यही तो हमारी परीक्षा का समय है। जो कुछ ईंट, चूना, मसाला है सो सामने है। इसीसे भारत-माता का भव्य मन्दिर हमें बनाना है। हमारी तारीफ इसीमें है कि इसी मसाले को काम में लाकर उम्दा भवन बनाया जाय। सब सामग्री अच्छी हो और फिर इमारत बढ़िया बने तो कारीगर की क्या तारीफ? मामूली कारीगर भी उसमें कामयाब हो जायगा। अत: निराश व दु:खी होने का कोई कारण नहीं है। ज्यादा दृढ़ता, श्रद्धा व परिश्रम की जरूरत है। हम अपना काम सचाई व संगठन से करते रहेंगे तो सब ठीक हो जायगा।"

मैं नवीन उत्साह व स्फूर्ति लेकर लौटा। विरोधियों के प्रति

उनकी उदारता, अपने को जिताने वालों की कमजोरी पर उनकी दृष्टि, उससे प्रसन्न न होकर उल्टा उसीपर चिन्तित होने की उनकी सत्याग्रही-वृत्ति तथा विरोध, आक्रमण, व निराशा के बीच अपूर्व स्थिरता व आशावाद का वह अनुभव भुलाये नहीं भूलता। आज भी उनकी बातचीत का सारा चित्र, उनकी वह गंभीर, किन्तु प्रसन्न व आत्मविश्वासमयी मूर्ति, ज्यों-की-त्यों मेरी आंखों के सामने खड़ी हो जाती है।

: ११ :

आश्रम-संचालन

सत्याग्रहाश्रम, साबरमती से 'नवजीवन-मुद्रणालय' ४-५ मील दूर था। मैं आश्रम से प्रायः पैदल दफ्तर—'हिन्दी नवजीवन' —जाया-आया करता था। जाती बार महात्माजी से अक्सर मिलकर जाता था, जिससे उन्हें प्रेस-मैटर देना हो तो साथ लेता जाऊं।

एक बार (संभवतः १९२३-२४) ले गया तो बापू को बड़ा उदास देखा। मुझसे पहले बहुत करके काका सा० (कालेलकर) या स्व० श्री मगनभाई गांधी उनसे मिलकर गये थे। मैंने बापू से पूछा—"कुछ मैटर है?" उन्होंने मानों शून्य में से निकलकर मेरी ओर देखा और बोले—"आज तो कुछ लिख नहीं पाया। ये आश्रम के प्रश्न ऐसे परेशान कर देते है कि कुछ पूछो नहीं। अभी काका गये हैं। उनका व मगनलाल का ऐसा मतभेद चल रहा है कि उसके मुकाबले स्वराज्य का प्रश्न सुलझाने में मुझे कोई कष्ट नहीं होता। दोनों स्वच्छ-निर्मल व्यक्ति हैं। परन्तु अपने-अपने मत में ऐसे दृढ़ हैं कि मिलकर काम करना असंभव होता जाता है। स्वराज्य की बड़ी-बड़ी लड़ाइयां लड़ते हुए मुझपर जरा भी जोर नहीं पड़ता; पर यह आश्रम चलाना बड़ा विकट काम है। फिर भी अपनी जान में मेरी यह सर्वोत्तम कृति है।"

न मैंने कभी आश्रम की समस्याओं के बारे में बापू से कुछ

कहा, न कभी बापू के ऐसे उद्‌गार मेरे सामने निकले—हालांकि मैं उन समस्याओं से थोड़ा बहुत परिचित तो रहता ही था; परन्तु मेरी भूमिका एक साधक या विद्यार्थी की थी, अपना स्थान या रास्ता छोड़कर जाने व बिला जरूरत गहरे पानी में पैठने की मेरी आदत भी नहीं है; परन्तु बापू उस दिन मानों भरे बैठे थे—किसी की मानो राह देख रहे थे कि मिलते ही हृदय उंडेल दें। इत्तफाक से मैं सामने आ गया। बापू के इन उद्‌गारों से मैं सकपका गया; किन्तु दबी जबान से बोला—"बापूजी, ऐसा मालूम होता है हम लोगों में दूसरों की भावनाओं का खयाल रखने (Consideration for others) की कमी है; अपनी बातों का आग्रह अधिक है, दूसरों के दृष्टि-बिन्दु को समझने की प्रवृत्ति कम है।"

बापू—तुमने बिलकुल ठीक कहा है।

इसके बाद मैं अपना झोला उठाकर दफ्तर की ओर चल दिया। मेरे दिमाग में बापू के ये शब्द अबतक गूंजते हैं—'यह आश्रम चलाना स्वराज्य से भी विकट काम है।' अपनी संस्थाओं के संचालन में जब क्लेश के अवसर आते हैं तो मैं साथियों को बापू की यह बात सुनाया करता हूं और खुद भी बहुत सान्त्वना पाता हूं।

: १२ :

दो अवगुणों से बरी

इसी तरह एक दूसरे दिन दफ्तर जाते हुए जब मैं बापू के पास गया तो उन्होंने मुझे एक पोस्टकार्ड डाक में डालने के लिए दिया। मैं सहसा किसी की चिट्ठी-पत्री नहीं पढ़ता हूं। पोस्टकार्ड तक के लिए मैं एहतियात रखता हूं। किन्तु इस कार्ड में सिर्फ दो-तीन ही सतरें थीं। पेन्सिल से लिखा था। पता एक बड़े नेता का था—इससे सहसा जानने की उत्सुकता हो आई। उसे मैं रोक न सका। पढ़ा—तो उसमें लिखा था—"आपके पत्र में रोष है, इसलिए उसके उत्तर की कोई आवश्यकता नहीं समझता।" मैं

पढ़कर दंग रह गया। जिन्हें यह पत्र लिखा गया था वे बड़े तेजस्वी नेता थे। बड़े छुईमुई भी थे। बापूजी का यह पत्र कड़ा ही नहीं, बड़ा रूखा भी था। मुझे डर लगा कि बापू से उनकी बिगड़ जायगी। परन्तु बापू का साहस भी खूब था। रोष बड़े-से-बड़े व्यक्ति का भी क्यों न हो, उसका क्या जवाब ? वह या तो सहन किया जा सकता है या उपेक्षा के योग्य है। अधिक सोचना मेरे लिए 'अव्यापारेषु व्यापार' था; परन्तु यह उत्सुकता जरूर बढ़ी कि यह मामला क्या है।

शाम को दफ्तर से लौटने पर बापू के प्राइवेट सेक्रेटरी से पूछा। उन्होंने वह असली पत्र बता दिया जिसके जबाव में बापू ने यह कार्ड लिखा था। उसमें और बातों के साथ यह लिखा था :—

"·····ने आपसे यह शिकायत की है कि मैं फिर से शराब पीने लगा हूं। वे मुझसे जलन रखते हैं और मेरे खिलाफ झूठा प्रचार करते हैं। जबसे मैंने शराब छोड़ी है अबतक उसे छुआ भी नहीं है; परन्तु चूंकि आपसे झूठी शिकायत की गई है, इसलिए उसके विरोध में अब मैंने शराब पीने का निश्चय किया है।"····· आदि।

जिनका नाम इस पत्र में लिखा था वे भी एक बड़े नेता थे। वास्तव में ऐसी कोई शिकायत उन नेता ने बापू से नहीं की थी।

बड़े-बड़े भी किस तरह गलतफहमियों के शिकार हो जाते हैं, सुनी-सुनाई बातों पर विश्वास करके कैसा कदम उठा लेते हैं, यह प्रकाश मेरे मन पर पड़ा। बापू ठीक ही कहा करते थे कि कोई बात तबतक मुंह से न निकालनी चाहिए जबतक उसे सिद्ध न कर सको। हम लोग अक्सर कच्चे कान व लम्बी जबान के होते है। गांधीजी इन दोनों अवगुणों से बरी थे।

: १३ :

वीर की अहिंसा

गांधीजी ने, अहिंसा, को सत्य के समान ही परम धर्म माना

व बताया है; परन्तु उनकी अहिंसा कायर की नहीं, वीर की अहिंसा है। जहां किसी तरह जान बचा लेने की भावना है वहां अहिंसा नहीं। जहां खतरे से मुंह मोड़ने, भाग जाने की संभावना है वहां अहिंसा नहीं। इससे गांधीजी ने उस हिंसा को श्रेष्ठ माना है जिसमें भय, संकट, हमले का सीधा सामना किया जाता हो। इसके कई उदाहरण हैं। एक-दो घटनाएं मेरे सामने की हैं। शायद १९२३ की बात है। गुजरात के पंचमहाल या गोधरा ज़िले में हिन्दू-मुस्लिम-दंगा बड़े जोर का हुआ था। वहां से कुछ हिन्दू भाग कर महात्माजी के पास साबरमती आये। मुसलमानों के अत्याचारों की उन्होंने बड़ी शिकायतें गांधीजी से कीं। सब बड़े दुःख लेकिन शांति के साथ सुनकर गांधीजी ने उनसे पूछा, "तो तुम लोगों ने इसके मुकाबले में क्या किया ?"

"साहब, क्या करते ? आपकी अहिंसा ने हमारे हाथ-पांव सब बांध रखे हैं, इसीसे हमारी पिटाई होती है !"

इस जवाब से महात्माजी का चेहरा तमतमा उठा। वे कड़े स्वर में बोले—"सो तो ठीक है; पर मेरी अहिंसा ने यह नहीं कहा था कि तुम लोग वहां से भाग कर अपनी बुज़दिली की रिपोर्ट मुझे देने आते ! मेरी अहिंसा तो ऐसे समय पर मर मिटने का संदेश देती है। तुममें यदि मर-मिटने का साहस नहीं था तो अपने मत के अनुसार उस स्थिति का मुकाबला करना चाहिए था। तुमने मेरे मत को तो समझा नहीं और अपने मत पर चलने की हिम्मत नहीं—तो मुझे अपना मुंह दिखाने आने की क्या जरूरत थी ?"

× × × ×

एक और घटना है जो साबरमती में ही किसी मित्र से सुनी थी। गुजरात विद्यापीठ की कुछ लड़कियों ने शायद श्रीकिशोरलालभाई से पूछा कि लड़के कभी-कभी हमसे छेड़खानी करते हैं तो हम क्या करें ? कैसे उसका प्रतिकार करें ? निश्चय ही वे अहिंसात्मक प्रतिकार का उपाय पूछ रही थीं। किशोरलालभाई

ने कहा—"तुम्हारे पैरों में चप्पल तो होते ही हैं, उठाकर मार दो।"

लड़कियां चकित रह गईं। अहिंसा के अनुयायी ने यह हिंसा का मार्ग कैसे बताया!

उन्होंने कहा—"यह तो हिंसा हुई। यह तो हम जानती हैं। हम तो अहिंसात्मक उपाय जानना चाहती हैं।"

किशोरलालभाई—"तुमको इसमें शंका हो या तुम्हारा समाधान न होता हो तो खुद बापू से जाकर पूछ लो।"

कहते हैं कि लड़कियां बापू के पास गईं। बापू ने कहा—"बस किशोरलाल ने यही बताया। मैं तो कहता हूं कि यदि तुम्हारे पास छुरी हो तो तुम भोंक दो, यदि तुम्हारे साथ कोई बलात्कार करना चाहे। इसे मैं तुम्हारे लिए अहिंसा ही कहूंगा।"

मतलब यह है कि वे लड़कियों को निर्भयता का पाठ पढ़ाना चाहते थे, जो कि अहिंसा का असली गुण है।

: १४ :

अद्‌भुत सहनशीलता

गांधीजी की मूक सहनशीलता और दूरदर्शिता की एक घटना इस समय याद आ रही है। यह उस समय की बात है जब स्व० श्रद्धानंदजी ने मलखानों की शुद्धि का आन्दोलन उठाया था। उन्हीं दिनों किसी प्रसंग को लेकर महात्माजी ने आर्यसमाज, महर्षि दयानन्दजी के सत्यार्थ-प्रकाश, आदि की कुछ आलोचना की थी। हिन्दू, खासकर आर्यसमाजी, मुसलमानों पर हिन्दू-स्त्रियों को उड़ाकर मुसलमान बना लेने का आक्षेप कर रहे थे। उन्हीं दिनों एक-दो घटनाएं ऐसी भी महात्माजी के कानों तक पहुंची थीं, जिनमें आर्यसमाजियों ने मुसलमान स्त्रियों को भगाकर या छिपाकर हिन्दू बनाया था—शुद्ध किया था। इसका भी उल्लेख या संकेत उनके लेखों में था। इसपर हिन्दू-समाज खासकर आर्य-जगत् में बड़ा हो-हल्ला मचा। शायद ही कोई आर्यसमाजी पत्र

या व्यक्ति ऐसा बचा हो, जिसने महात्माजी को आड़े हाथों न लिया हो। महात्माजी के पास तो सैकड़ों विरोध के पत्र व तार आ ही रहे थे, हम लोगों के पास भी, जो उनके पत्रों के सम्पादकीय विभाग में थे, पत्र-पर-पत्र चले आ रहे थे। एक दिन मैंने बापू से पूछा—"बापू, विरोधी पत्रों का ढेर लग गया है, आखिर इनका क्या किया जाय? आप इनका कोई उत्तर या सफाई 'यंग इंडिया' में क्यों नहीं देते? और बातों के अलावा हिन्दुओं द्वारा मुसलमान लड़की को भगाने या छिपाकर शुद्ध करने की घटना पर कइयों ने बापू को चुनौती देकर कहा था कि ये गलत बातें हैं। मैंने बापू को सुझाया कि आप बिना प्रमाण के तो कभी कोई बात लिखते नहीं, जब आपने उल्लेख या संकेत किया है और लोग चुनौती-पर-चुनौती देते हैं तो वे प्रमाण क्यों नहीं पेश कर देते, जिससे यह हल्ला बन्द हो जाय?" बापू ने मुस्कराकर कहा—"मैं जानबूझ कर चुप हूं। अपनी चुप्पी के द्वारा ही मैं आर्यसमाज की बड़ी सेवा व रक्षा कर रहा हूं। इस समय मेरा यही धर्म है; क्योंकि मैं आर्यसमाज और आर्यसमाजियों का मित्र हूं। उनकी यह असहनशीलता उनकी कमज़ोरी है। मुझ-जैसे उनके मित्र की आलोचना पर तो उन्हें गम्भीरतापूर्वक आत्मपरीक्षण करना चाहिए; परन्तु यह दुःख की बात है कि इस क्षमता का प्रदर्शन वे इस समय नहीं कर रहे हैं। मैंने जो कुछ लिखा है, वह सत्य लिखा है व जिन्होंने मुसलमान लड़कियों को इस तरह शुद्ध किया है खुद उनके बयान के आधार पर मैंने लिखा है। मुझे उन्होंने वे नाम भी बता दिये। मैं दंग रह गया। फिर उन्होंने कहा—"यदि आज मैं इसका प्रमाण दूं, इन नामों को खोल दूं, तो मुसलमान आर्यसमाज को खा जायंगे। इस वातावरण में इससे द्वेष व शत्रुता ही बढ़ेगी। मुझे यह मंजूर नहीं है। मैं तो केवल आर्यसमाज की शुद्धि चाहता हूं। अब इसका यही उपाय है कि अपने मित्र पर वे लोग जो भी आक्षेप, आपत्ति या हमला करते हैं उसे मैं शांति के साथ सह लूं। अनजान लोग थोड़ी देर के लिए मुझे झूठा भी मान लें तो उससे

उतनी हानि नहीं, क्योंकि मेरा सत्य इन हमलों से कहीं बढ़कर मजबूत है।"

गांधीजी ने सत्य व शुद्धि की खातिर विष की ऐसी कई घूंटें पी हैं। जैसा उनमें सत्य की तलवार उठाने का निर्भय बल व साहस था, वैसा उनमें दूसरों के अनुचित आक्रमणों, आपत्तियों, शंकाओं को सहने का भी अपरिमित अहिंसाबल था।

: १५ :

सूक्ष्म दृष्टि

गांधीजी की निगाह कितनी पैनी थी, कितनी तफसील की बातें वे सोचते थे व याद रखते थे, खासकर बीमारों व बीमारियों के बारे में, इनकी कुछ घटनाएं सुनिए। दृष्टि उनकी सूक्ष्म ही नहीं, भेदक भी थी। उन्होंने एक बार मुझसे कहा था कि मनुष्य के सामने आते ही उसका बहुत-कुछ अन्दाजा मुझे हो जाता है। स्व० जमनालालजी कहा करते थे कि मनुष्य के पत्र-व्यवहार, चाल-ढाल, सूरत-शकल से मुझे उसके स्वभाव व उद्देश्य का अंदाजा हो जाया करता है। महापुरुषों में यह गुण आवश्यक रूप से होता है।

१९२१ की बात है। आश्रम में पहुंचने के थोड़े दिन बाद ही मैं अपने माता-पिता को भी साबरमती ले गया। मेरे पिताजी का स्वभाव बड़ा खरा था। अपने मन की सच्ची बात वे बड़े कड़े ढंग से बड़े-से-बड़े आदमी के मुंह पर कहते हुए नहीं हिचकते थे। वे मुंहफट प्रसिद्ध थे, इतने कि मुझे लोगों के नाराज हो जाने का डर लगा रहता था। जब वे आश्रम में आये तो पूज्य बापू का दर्शन उन्हें करना व मुझे कराना ही था; पर मैं मन में डर रहा था कि कहीं बापू को कुछ कह-सुन न बैठें, क्योंकि वे बापू के, खासकर छुआछूत-सम्बन्धी विचारों व आन्दोलन से, सहमत नहीं थे। सुबह ८-९ बजे का वक्त बापू ने मिलने के लिए दिया था। बापू आश्रम वाले अपने घर के बरामदे में पूर्व की ओर मुंह करके अक्सर

बैठा करते थे। सामने साबरमती बहती थी। नदी व बापू को कुटिया के बीच में नदी के किनारे पर ही थोड़ा-सा मैदान था जिसमें बापू प्रायः सोया करते थे और उसमें से होकर लोग बापू से मिलने आते जाते थे। सामने लकड़ी की जाली व कई बड़ी-बड़ी खिड़कियां लगी हुई थीं, जिनमें से बापू अक्सर आनेवालों को देख सकते थे व कई बार देख भी लिया करते थे। पिताजी, मार्तण्ड और मैं—हम तीनों मिलने गये थे। खिड़की में बापू ने हमें आते हुए देखा। हम कमरे में पहुंचे व प्रणाम किया। पिताजी ने उन्हें 'जय रामजी की' शब्द से वन्दन किया। वे प्राचीन जाति-प्रथा या वर्ण-व्यवस्था की परिपाटियों के बड़े अभिमानी थे; ब्राह्मण या साधु-संन्यासी के सिवा किसी को प्रणाम या नमस्कार नहीं करते थे, 'जय राम', 'राम राम', 'जय गोपाल', 'जय रघुनाथजी' आदि शब्दों से अभिवादन किया करते थे। बापू ने पहला प्रश्न पिताजी से किया—"आपके पांव में कुछ तकलीफ है ?" मैं बीच ही में बोल उठा—"नहीं तो।" इतने में पिताजी बोले—"हां, कुछ थी। अब तो नहीं रही है; पर कुछ चलने में दिक्कत होती है।" बापू ने कहा, "हां, मैंने आपको देखा तो मुझे यही शक हुआ।" हम सुनकर दंग रह गये। पिताजी के कोई २-३ साल पहले घुटने में मामूली दर्द हुआ था। इलाज से वह ठीक हो गया था। हमने कभी पिताजी की चाल में कोई फर्क नहीं देखा; मगर बापू ने भांप लिया। बापू की इस पैनी दृष्टि पर जहां बड़ा कुतूहल हुआ, वहां अपनी मूर्खता पर शर्मिन्दगी भी।

इसके १३-१४ वर्ष बाद दिल्ली में जब पिताजी बापूजी से मिलने गये तो बापू ने पहला सवाल किया—"आपके पांव की तकलीफ अब कैसी है ?" कितनी पुरानी बात उन्होंने याद रखी ? मिलते ही वे स्वास्थ्य व बीमारी के बारे में जरूर प्रश्न करते थे। पत्रों में भी इस बारे में जरूर पूछताछ करते थे। मेरा स्वास्थ्य प्रायः खराब ही रहा करता है। अतः शायद ही कोई पत्र ऐसा मिला हो, जिसमें उन्होंने इस विषय में एकाध सतर न लिखी हो।

: १६ :

सेवा-भाव

साबरमती में तो उनका यह नियम ही था कि शाम को प्रार्थना के पश्चात् आश्रम के प्रायः सब बीमारों का हाल उनके घर वालों या पड़ोसियों से, जो प्रार्थना में आते थे, पूछ लिया करते थे, सो भी तफसील से। क्या खाया-पिया, क्या व किसकी दवा चल रही है, आदि। फिर प्रायः हर बीमारी के लिए अपनी तरफ से कोई-न-कोई उपयोगी सुझाव देते। किसी का समाचार नहीं मिलता या कोई ज्यादा बीमार होता तो खुद उसके घर जाकर देखते। एक बार इसी तरह एकाएक मेरी माताजी को देखने आ गये। उनकी जांघ में एक विषैला फोड़ा हो गया था। उस दिन शाम को उनकी देखभाल में लगे रहने के कारण हम कोई प्रार्थना में न जा सके तो वे लकड़ी हाथ में लिये घर पर आ पहुंचे। हम कोई इसके लिए तैयार नहीं थे। कमरे में सब चीजें अस्त-व्यस्त पड़ी थीं। मैं बड़ा शर्मिन्दा हुआ। बापू का आना माताजी के लिए तो आधी से ज्यादा बीमारी के दूर हो जाने के बराबर था। महात्माजी को रोगियों की सेवा-शुश्रूषा खुद करने में बड़ा संतोष मिलता था। कुष्ट-रोगी परचुरे शास्त्री के घावों को वे खुद बड़े चाव से धोते थे। इसे नारायण की सेवा ही समझते थे। एक बार वर्धा में कांग्रेस कार्य-समिति की मीटिंग बीच में ही छोड़कर परचुरे शास्त्री की परिचर्या के लिए सेवाग्राम जाने लगे तो जवाहरलाल जी, जो उस समय शायद कांग्रेस के सभापति थे, गांधीजी पर बिगड़े। झल्ला कर कहा—"क्या स्वराज्य व कार्य-समिति से बढ़कर जरूरी काम सेवाग्राम में है?" बापू ने दृढ़ता के स्वर में कहा—"है। मेरे लिए वह स्वराज्य से बढ़कर है।" वह उनके लिए अपने भगवान की परिचर्या थी।

यदि हम जीवन के सब कार्यों को भगवान की पूजा मानकर करने लगें, प्रत्येक व्यक्ति को नारायण का रूप समझकर उसके

साथ व्यवहार करने लगें तो वह कार्य कितना आनन्द व संतोषप्रद तथा वह व्यवहार कितना सहज, निर्मल व पवित्र हो जाय ! प्रत्येक कार्य व प्रत्येक व्यक्ति में हमारी दिलचस्पी कितनी बढ़ जाय ! 'अब तो जी उकता गया' ऐसा कहने या मानने का भी अवसर ही नहीं आ सकता । इस सिलसिले में नाथद्वारा का एक बढ़िया प्रसंग मुझे याद आ रहा है ।

एक बार मैं उदयपुर से चित्तौड़ जा रहा था तो मावली स्टेशन पर नाथद्वारा की एक विधवा बुढ़िया मेरे डिब्बे में आई। जेल में मुझे श्रीमद्भागवत पढ़कर भागवत्-धर्म समझने का अवसर मिला था। पुष्टि-मार्ग में भागवत्-ग्रन्थ को बहुत प्रधानता दी गई है । नाथद्वारा पुष्टि-मार्गियों—वल्लभ-संप्रदायवालों—का बहुत बड़ा तीर्थ है । तो सहज ही मुझे वहां के जीवन के बारे मे कुछ पूछताछ करने की उत्सुकता हुई। वैसे तीर्थस्थानों की आधुनिक दशा की आलोचना बहुत सुनी थी। खुद काशी में पांच साल विद्याध्ययन के लिए रहा था तो वहां के अनुभव भी थे । दूसरे तीर्थों की भी यात्रा के अवसर आये थे । अतः भगवान में श्रद्धा-भक्ति होते हुए भी, तीर्थों की मूल कल्पना का, उनकी पतित-पावनता का कायल होते हुए भी उनकी वर्तमान अवस्था व व्यवस्था के प्रति आलोचक दृष्टि ही मेरी थी व अब भी है। अतः नाथद्वारा के लिए मन में कोई उच्च भाव नहीं था। फिर भी कुतूहलवश कुछ जिज्ञासा हुई।

बुढ़िया के एक विधवा बेटी थी । वह भी उसके साथ रहती थी । मैंने दोनों की दिनचर्या भी पूछी । कार्यक्रम जानना चाहा । बुढ़िया ने सुबह ५ बजे से रात के १० बजे तक का ऐसा कार्यक्रम बताया कि कुछ मिनटों की भी गुंजाइश दूसरे काम के लिए नहीं थी। सारा काम ठाकुरजी की पूजा, अर्चा, शृंगार, भोजन, शयन और विविध प्रकार की सेवा से संबंध रखता था। मैंने उससे पूछा कि तुम मां-बेटी की बातचीत व चर्चा के विषय क्या होते हैं ? उसने कहा, "भैया, हम सुबह से रात तक ठाकुरजी की सेवा में

हो इतनी लगी रहती हैं कि चर्चा तो दूर, बातचीत करने की भी फुरसत नहीं मिलती। हमारे मन में चौबीसों घंटे सिवा ठाकुर-जी के दूसरा खयाल सहसा नहीं आने पाता।" मैं बुढ़िया की इस बात पर अविश्वास ही करता, यदि मैंने स्वयं सत्याग्रहाश्रम (साबरमती) में ऐसा ही सटा हुआ घना कार्यक्रम न देखा होता। वहां एक-एक मिनट का और समय की पाबन्दी का इतना खयाल रक्खा जाता था कि एक स्थान से दूसरे स्थान पर दौड़कर ही मनुष्य ठीक समय पर पहुंच सकता था। फिर बुढ़िया ने सुबह से शाम तक के कामों की इतनी तफसील भी बताई कि उसमें की जगह तो नहीं थी। सारा वर्णन सुनकर मेरे मन ने कहा—अविश्वास "धन्य है यह जीवन-क्रम, जिसमें चौबीसों घंटे भगवान का ही ध्यान रहता है! यह तो जाग्रत समाधि हो गई। भगवद्भाव और क्या हो सकता है? जिस लगन व चिन्ता से ये बुढ़िया मां-बेटी ठाकुरजी की सेवा करती थीं, उसी प्रेम व भक्ति से साबरमती आश्रम के सेवक लोक-सेवा-कार्यों में लगे रहते थे। ये बुढ़िया-बेटी मूर्ति-पूजा के माध्यम से, तो वे सेवक-सेवा कार्यों के माध्यम से उसी भगवद्भाव को पाते थे। ये दो प्रकार के भगवद्भक्त हुए, एक भगवान की व्यक्तिगत सेवा-पूजा करता है, दूसरा उसके कार्यों में अपना जीवन खपाता है। इस दूसरे मार्ग में दुखियों की सेवा का एक लाभ रास्ते चलते हो जाता है—यह इसकी विशेषता है। इसीलिए गांधीजी इसपर याने अनासक्तिपूर्वक सेवा-कार्यों में जीवन लगाने पर ज़्यादा जोर दिया करते थे। अपनी कामनाओं व कर्मफलों के प्रति अनासक्त हुए बिना भगवान में सच्ची भक्ति हो ही नहीं सकती। एक की अनासक्ति से दूसरे में आसक्ति अपने आप हो जाती है। मन को आसक्ति का कोई-न-कोई विषय चाहिए। ऐसा सर्व-मंगलदायक शान्ति-सुखकारक विषय एक-मात्र भगवान ही हो सकता है।

: १७ :

वक्त की पाबंदी

बापू का समय-पालन व नियम-पालन तो जग-जाहिर है। उनका नाम ही पड़ गया था 'सत्रह घण्टों का गुलाम'। एक रोज शाम को घूमते समय साथ वालों से बातचीत करते हुए कुछ देर हो गई तो उन्होंने दौड़कर समय पर प्रार्थना में पहुंचने का प्रयत्न किया। यह तो मैंने खुद देखा, पर और लोग कहते थे कि ऐसा कई बार हो जाता है।

आश्रम में कई बार संयुक्त भोजन के प्रयोग हुए। बापू मानते थे कि कौटुम्बिक जीवन से आगे सामाजिक या सामूहिक जीवन की ओर प्रगति करनी चाहिए। यह उनके 'रामराज्य' की एक सीढ़ी थी। इसके लिए जरूरी था कि सब लोग एक ही जगह आश्रम के भोजनालय में खाना खावें। इससे समय व धन की बचत के अलावा सामूहिक जीवन का अभ्यास भी होगा। लेकिन यह सब होना चाहिए समय-पालन, सुव्यवस्था व शुचिता के साथ। इस सारे कार्यक्रम को गति देने व लोगों को प्रोत्साहित करने के लिए खुद बापू ने भी संयुक्त रसोड़े में भोजन करना शुरू किया। भोजन के समय दो घंटी लगाने का नियम तय हुआ। दूसरी घंटी तक जो भोजनालय में न पहुंच सके, उसे दूसरी पंक्ति के लिए बरामदे में इंतजार करना पड़ता। दूसरी घटी के बाद रसोईघर का द्वार बन्द कर दिया जाता, जिससे बाद में कोई आने न पावे। एक रोज मैंने देखा कि बापू पिछड़ गये। इत्तफाक से मैं भी पिछड़ गया था। देखा कि बापू बरामदे में खड़े हैं। बरामदे में बैठने के लिए कोई बेंच या कुर्सी भी नहीं थी। मैंने बापू से, दरअसल तो अपने पिछड़ने की झेंप मिटाने के लिए, विनोद करते हुए कहा—"आज तो आप भी गुनहगारों के कटघरे में खड़े हैं!" बापू ने खिलखिला कर हंसते हुए कहा—"कानून के सामने सब बराबर होते हैं न..." मैंने कहा—"कुर्सी लाऊं?" बोले—"नहीं, सजा तो पूरी भुग-

तनी चाहिए। सच्चा आनन्द इसीमें है।"

एक बार उन्हें गुजरात-विद्यापीठ किसी कमेटी की मीटिंग में या ऐसे ही जरूरी काम से जाना था। समय पर कोई सवारी नहीं आई तो पैदल चल पड़े। जब देखा कि इससे तो पिछड़ जायंगे तो रास्ते में कोई साइकिल पर जाते हुए मिला, उससे साइकिल ले ली और उसपर सवार होकर समय पर गुजरात-विद्यापीठ जा पहुंचे।

मुलाकात के समय कभी एक सेकिण्ड की भी देर हो जाती तो फौरन टोकते और समय पूरा होते ही कहते—"अब भाग जाओ। दूसरों का समय हो गया।"

: १८ :

आरोग्य बनाम सुन्दरता

रसोईघर में नौकर कोई नहीं होता था। बारी-बारी से सबको नियत काम करना पड़ता था। खुद बापू के जिम्मे भी समय-समय पर काम दिया जाता था और वे बड़ी तत्परता, ध्यान व रस के साथ उसे करते थे। एक बार वे टमाटर काट रहे थे। मेरी भी ड्यूटी उस समय थी। मैंने देखा कि बापू टमाटर बड़े टेढ़े-मेढ़े काट रहे थे जिससे उनके टुकड़ों की शक्लें बड़ी भद्दी हो जाती थीं। मैंने सोचा, बापू तो सुघड़ता के बड़े प्रेमी हैं। इन बदशक्लों की ओर इनका ध्यान क्यों नहीं जाता? मैने विनोदी ढंग से कहा—"बापू, टमाटर काटना तो अभी आपको नहीं आया। मालूम होता है, आज आपका मन और कहीं है।" बापू ने मुस्कराते हुए लम्बी 'हूं' की और बोले—"अभी तुम लोगों को मुझसे टमाटर काटना सीखना है। तुम लोग सुन्दर शक्लें काटने में यह भूल जाते हो कि टमाटर की आँखों में (दबी जगहों में) अक्सर कीड़े होते हैं। बिना ज्यादा ध्यान से देखे बीजों में उनका पता नहीं लगता। अतः टमाटर इन आंखों को बचाकर काटने चाहिएं। मैं इसी तरह बड़े ध्यान से काट रहा हूं। सुन्दरता और आरोग्य में

किस का चुनाव ठीक है ?" मैंने कहा—"बापू, अब तो आपके सामने कान पकड़ना पड़ेगा।" और मैंने अपने दोनों कान पकड़ लिये। बापू खिलखिलाकर हँस पड़े।

: १९ :

सिपाही का धर्म

बापू के सामने आश्रम की कई छोटी-बड़ी समस्याएं आतीं। उन्हें छोटी-से-छोटी बातों की तरफ बारीकी से ध्यान दिये बिना चैन नहीं पड़ती थी। उनके हल करने के तरीके भी अद्भुत हुआ करते थे। उनके सामने सदैव दो बातें रहतीं—कोई काम सत्य, अहिंसा के सिद्धान्त के विपरीत न होने पावे। उसका हल ऐसा निकाला जाय,जिससे राम-राज्य की कल्पना या सर्वोदय का उद्देश्य पूरा हो सके। बाहरी दबाव की अपेक्षा भीतरी गुणों या शक्तियों के विकास पर यह अधिक अवलम्बित रहता है। अतः वे व्यक्तियों से व्यवहार करते समय इस बात का बड़ा ध्यान रखते थे कि वह उनके बोझ से दब तो नहीं रहा है या दबकर तो किसी बात में 'हां' नहीं कर रहा है। इसकी कई मिसालें हैं। अपनी जानकारी की कुछ मुख्य-मुख्य मिसालें यहां देता हूं।

सन् १९२५ में महात्माजी बेलगांव-कांग्रेस के सभापति हुए। कांग्रेस का काम कैसे चलना चाहिए, कांग्रेस के द्वारा रचनात्मक कामों को कैसे आगे बढ़ाना चाहिए, इसका नमूना पेश करने के लिए खासकर वे सभापति बने। उनके सभापति बनने से आश्रम-वासियों के मन में भी बेलगांव जाने का उत्साह हुआ। और साल तो केवल वही लोग कांग्रेस में जाया करते थे, जिनकी जरूरत वहां काम के लिहाज से हुआ करती थी। फालतू किसी का कहीं जाना, फिर वह बड़ी-से-बड़ी लुभावनी जगह भी क्यों न हो, बापू को पसंद नहीं था। किन्तु इस बार तो खुद बापू ही सभापति होने वाले थे और रचनात्मक कामों को प्रधानता मिलनेवाली थी। अतः बहु-तेरे उम्मीदवारों के नाम बापू के पास आ गये। बापू सोच में पड़

गये। किनको रोका जाय, किनको मंजूरी दी जाय ? फिर खर्चे का भी सवाल था।

मैने सन् १९१४ में पहली बार लखनऊ में कांग्रेस का अधिवेशन देखा था। फिर १९२१ में अहमदाबाद वाला। लखनऊ के समय तो मैं कानपुर रहता था। अतः पास ही लखनऊ चला जाना आसान था। अहमदाबाद के समय मैं वहीं रहता था। अतः शरीक हो जाना बड़ा सुलभ था। उसके बाद कभी कांग्रेस में जाने की इच्छा नहीं हुई। एक तो इसका कारण यह था कि जो कांग्रेस के प्राण थे, जहां सारी राष्ट्रीय व नैतिक शक्तियों का केन्द्र था, उन्हीं चरणों में जब पहुंच गया, उनके सिद्धान्तों, आदर्शों, विचारों को समझने व पचाने का सुअवसर जब मिल गया तो कांग्रेस के अधिवेशनों में सिवा बहस व व्याख्यानों के और क्या विशेष सीखने जैसा था ? बापू के पास कौन से गुण, शक्ति, योग्यता की कमी है जो दूसरे नेताओं से मिल सके ? इस तरह के मेरे विचार रहे। दूसरे बापू के एक उपदेश का मेरे मन पर जीवन भर के लिए असर हो गया था। सन् १९२१ में जब मैं बापू के पास पहुंचा ही था कि युवराज के स्वागत-बहिष्कार का आन्दोलन बड़े ज़ोरों से चल रहा था—उसके लिए जगह-जगह स्वयंसेवकों की भर्ती हो रही थी। मेरी भी इच्छा हुई कि मै अपना नाम लिखाऊं। पर 'हिन्दी नवजीवन' का काम कर रहा था। बापू की इजाजत के बिना कैसे नाम लिखाऊं ? बड़े उत्साह से बापू से पूछने गया। उन्होंने कहा—"हाल ही में तो तुमने 'नवजीवन' का काम हाथ में लिया है। तुम्हारे भर्ती होने से इस काम का क्या होगा ? अपना काम छोड़कर दूसरे काम में पड़ना तो सिपाही का धर्म नहीं है। तुम्हें जेल जाना है तो 'नवजीवन' का काम करते हुए ही जेल जाना है। दूसरा खयाल छोड़ दो।"

इस उपदेश का असर भी मुझपर काम कर रहा था। इसके प्रभाव में मैने बड़े-बड़े अवसरों को खो दिया। परन्तु आज तक ज़रा भी अफसोस नहीं हुआ। उलटे मन में एक प्रकार का गौरव

व अभिमान-सा लगता है कि मैने कुछ खोया नहीं—सिपाही-धर्म का पालन करके श्रेय ही प्राप्त किया। किन्तु बेलगांव-कांग्रेस के समय जाने के उत्साह को मैं न रोक सका। मैंने मन में निश्चय ही कर लिया था कि अबकी बार जाऊंगा। जाने से कुछ दिन पहले एक बार सुबह की प्रार्थना के समय बापू ने बताया कि किस तरह के लोगों को बेलगांव-कांग्रेस में जाना चाहिए। उनमें मेरा समावेश कहीं नहीं होता था। फिर उन्होने प्रश्न किया कि कौन-कौन लोग बेलगांव-कांग्रेस में जाना चाहते हैं। कई लोगों ने अपने नाम पेश किये। मैं दुविधा में पड़ गया। सिपाही-धर्म ज़ोर मार रहा था कि बापू ने मुझसे पूछा—"हरिभाऊ, तुम्हारा क्या विचार है ?" मैं देख रहा था कि कई नाम आ जाने से बापू कुछ चिन्ता मे पड़ गये हैं और कोई राह्ता ढूंढ रहे हैं। मैंने उसी क्षण निश्चय कर लिया कि नहीं जाना चाहिए और बापू से कहा—"बापूजी, मेरा विचार तो जाने का हुआ था। अहमदाबाद-कांग्रेस के बाद मैं किसी अधिवेशन में नहीं गया। लेकिन आपने जो चोखटा बनाया है, उसमें मेरे जाने की कोई गुंजाइश नहीं है, अतः मैंने न जाने का निश्चय कर लिया है।"

सुनते ही बापू की खुशी की सीमा न रही। उन्हें हल मिल गया और दूसरे फालतू जाने वालों को रोकने का सहारा भी। बस, फौरन कहा—"तुम्हारा निश्चय बहुत ठीक है।" और दूसरों को सम्बोधन करके कहा—"हरिभाऊ की तरह सबको सोचकर अपना-अपना निर्णय करना चाहिए।" एक खासा व्याख्यान दिया और उसके जादू से कइयों को बेलगांव जाने से बचा लिया। न किसी पर रुकने का दबाव डाला, न किसी को स्पष्ट इनकार किया। सबकी आत्मा को जाग्रत करके निर्णय कराया। वे बाज-बाज को इन्कार भी कर सकते थे और कई बार मना कर भी देते थे, किन्तु व्यक्तिगत रूप से। यहां तो कई व्यक्तियों का सवाल उठ खड़ा हुआ था। उसके लिए उन्हें रोक की एक लकीर खींचनी थी और एक मिसाल भी चाहिए थी।

: २० :

बापू की कुशलता

आश्रम के तपस्वी व्यवस्थापक श्री मगनलाल गांधी का बिहार में एकाएक स्वर्गवास हो गया। गांधीजी को बड़ा धक्का लगा। उन्होंने श्रीमती संतोषबहन (मगनभाई की धर्मपत्नी) से कहा—"विधवा तुम नहीं, मै हुआ हूं। शोक करने का मुझे अधिकार है, तुम्हें नहीं, जबतक कि मै बैठा हूं।" और उस क्षण से महीनों मगनभाई के घर पर ही रहे।

अब एक बड़ी समस्या खड़ी हुई। मगनभाई की इच्छा थी कि बिहार में उनका अधूरा काम राधाबहन (उनकी सुपुत्री) करे। संतोषबहन उसको अपने पास ही रखना चाहती थी। पूज्य बा का इसमें समर्थन था। राधाबहन, जहां तक मुझे याद पड़ता है, मगन भाई की अंतिम इच्छा को पूर्ण करना चाहती थीं। बापूजी खुद भी दिवंगत आत्मा को संतोष देने के पक्ष में थे; परन्तु सन्तोषबहन तथा बा के विरोध के कारण बड़ी दुविधा में पड़ गये। यदि बिहार भेजते हैं तो सन्तोषबहन की नाराजगी और उनके यह समझ लेने का अन्देशा था कि बापूजी मेरे दुःख को नहीं समझ पाये। नहीं भेजते हैं तो मगनभाई की आत्मा और उनके अधूरे काम का खयाल उन्हें सता रहा था। अब इसका निर्णय उनके सिवा कौन करता? राधाबहन पर वह छोड़ा नहीं जा सकता था, क्योंकि जिसके निर्णय में बापू को इतना पसोपेश होता था, उसका निश्चय करना उनके लिए और भी मुश्किल था। बापूजी बड़े सोच-विचार में पड़ गये। सिद्धान्त का प्रश्न होता तो बापूजी उसको चुटकियों में हल कर देते; परन्तु यहां भावनाओं का संघर्ष था। इसमें धर्माधर्म का प्रश्न नहीं था। आखिर उन्हें एक तरकीब सूझी। पैसा उछालकर इसका फैसला कर लिया जाय। यह एक प्रकार से दैवी निर्णय होगा। लोगों ने आलोचना की, "यह तो पलायन-वृत्ति हुई। अन्ध-विश्वास हुआ। बापू के लिए यह शोभा

नहीं देता।" बापू ने प्रार्थना में प्रतिपादन किया कि जिसमें सिद्धान्त या धर्माधर्म का प्रश्न खड़ा न होता हो, भावनाओं का संघर्ष हो, वहां इस तरह चिट्ठी डालकर या पैसा उछालकर फैसला कर लेना बुरा नहीं। इसमें किसी के भला-बुरा बनने की सम्भावना नहीं रहती। सबके चित्त के समाधान की ही गुंजाइश रहती है।

× × ×

बापू के एक साथी की लड़की से दोष हो गया। बापू को बड़ी चोट लगी। अब लड़की के सगाई-विवाह का सवाल सामने आया। बापू ठहरे धर्म के उपासक। फिर दुविधा खड़ी हुई। यदि वर पक्ष वालों को कुछ नहीं कहते हैं तो उन्हें धोखा देने जैसा हुआ। यदि कहते हैं तो यह आशंका थी कि कहीं वे सम्बन्ध नामंजूर न कर दें। लड़की से उन्होंने प्रायश्चित्त करा लिया था। जहां तक मुझे याद है, खुद भी उपवास करके प्रायश्चित्त किया था। आगे ऐसी गलती न करने की प्रतिज्ञा लड़की ने की थी। इस तरह शुद्ध हो जाने से बापू का मन हल्का तो हो गया था; परन्तु वे बड़े असमंजस में पड़ गये थे। आखिर उन्होंने सत्य बात कह देने का संकल्प किया। न होगी शादी तो लड़की कुंवारी ही रहेगी; पर असल बात छिपाना ठीक नहीं। साधारण लोग उलटा ऐसे अवसरों पर लड़कियों के ऐब छिपाकर गुण-ही-गुण बताते हैं। सोचते हैं कि किसी तरह लड़की की सगाई हो जाय, पीछे ससुराल वाले भले ही रोते रहें। परन्तु बापू तो धर्म-पालक, नीति-निर्धारक व सत्य पथ-प्रदर्शक थे। 'या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी' के नमूना थे। उन्होंने भावी वर को सब बातें बता दीं और कहा, "यह सम्बन्ध वैसे सब तरह से ठीक है; परन्तु इसका निर्णय तुम्हें अपनी अन्तरात्मा से पूछ कर करना है।" लड़के ने बापू के विचारों को पसन्द किया और शादी हो गई। बापू में इस तरह की ऐसी कुशलता थी, जो उनकी सत्य और अहिंसा की अहर्निश साधना से प्राप्त हुई थी, और होती रहती थी।

: २१ :

पशु-पक्षियों तक के प्रति अहिंसक

आश्रम में खेती होती थी, बगीचा भी था, जिसमें फलों के वृक्ष-पौधे लगाये गये थे। बापू सुघड़ता व कला-सौंदर्य के रसिक थे; परन्तु सबका आधार 'उपयोगिता' रहता था। केवल शोभा-शृंगार उन्हें पसन्द नहीं था। अतः आश्रम में फूल-पौधों और बेलों की अपेक्षा फल-पौधों की ही अधिकता थी। चूंकि खादी-सम्बन्धी सब प्रतिक्रियाएं शुरू से अखीर तक आश्रम में करना और सिखाना चाहते थे, अतः कपास की खेती भी शुरू हुई। आश्रम में बन्दरों की चढ़ाई अक्सर होती रहती थी। वे फलों व खासकर कपास के बौंड़ों को खा जाया करते थे। उन्हें कैसे भगाया व रोका जाय? इधर नुकसान को रोकना, उधर बन्दरों के प्रति हिंसा न होने देना। पत्थर मारने से उन्हें चोट लगती थी। खाली हो-हल्ला मचाने से वे मानते नहीं थे। अतः एक अहिंसक उपाय निकाला। ऐसे हलके तीर, जिनकी नोक पर रुई, कपड़ा या फूल बंधे हों, चलाये जायं, जिनसे बन्दरों को धक्का तो लगे; परन्तु चोट न पहुंचे, जख्म न हो जायं। पशु-पक्षियों तक के प्रति बापू अहिंसक रहना चाहते थे।

आश्रम में सांप भी निकला करते थे। और जगह लोग उन्हें देखते ही मार डालते हैं। अफ्रीका में तो सांपों और वहां के निवासियों को परस्पर इतना बैर है कि सांप आदमियों को देखते ही काटने को झपटता है और आदमी भी सांप को देखकर जिन्दा नहीं छोड़ता। दोनों पक्षों में प्रबल हिंसा पाई जाती है। साबरमती आश्रम में दोनों पक्षों में अहिंसा का भाव पाया गया। वहां सांप को मारने की मनाही थी; किन्तु सांप निकलते बहुत थे। साबरमती आश्रम जहां बसा है वहां पहले वीरान ज़मीन थी, जीव-जन्तुओं का असली घर था। उनकी जन्म-भूमि में आश्रमवासी घुस गये और अपना डेरा जमा लिया। तो वे—बिच्छू, सांप, छछूंदर, घूंस,

चींटी, दीमक आदि—अपनी लड़ाई किसी-न-किसी रूप में जारी रखते ही थे; परन्तु आश्रमवासी थे अहिंसावादी। बिच्छुओं को पकड़कर छोड़ देते थे। वह आसान भी था; परन्तु सांपों का क्या किया जाय? यदि उन्हें मारते नहीं हैं तो उनके डस लेने और उससे मृत्यु हो जाने की संभावना थी। सो उन्हें भी पकड़कर दूर जंगल या नदी-नालों में छोड़ आने का उपाय निकाला गया। सांप को पकड़ने के लिए कम-से-कम दो आदमी जरूरी होते थे। एक उसे लाठी से दबा देता था। जब वह फन उठाता तो दूसरा उसमें फंदा डालकर उसे फांद देता था। फंदा बड़ा ही आसान था। एक लंबी बांस की लकड़ी के सिरे पर मामूली रस्सी का फंदा डाल देते थे, रस्सी खींचते ही सांप का फन उसमें दब जाता था। फिर उसे इस एहतियात से उठाते थे कि सांप को बांस पर लिपटने का अवसर नहीं मिलता था। वह सीधा ज़मीन की तरफ लटकता रहता था। यह तरीका सभी जगह आज़माने लायक है। इस अहिंसा-भाव का नतीजा यह था कि सांप भी आश्रमवासियों का लिहाज करते थे, उनपर झपटते नहीं थे। वहां सांप के काटने के एक-दो उदाहरण देखने में आये। उन्होंने काटा भी अहिंसाभाव से ही था, क्योंकि कोई मरा नहीं।

: २२ :

आश्रमियों की अहिंसा

सुनते हैं कि चोर-लुटेरों के भी कुछ नीति-नियम होते हैं। वे शरणागत को नहीं लूटते-मारते। साधु-सन्तों के यहां चोरी नहीं करते। किन्तु कलियुग में, और खासकर अंग्रेजी राज के बदौलत, यहां प्रायः सभी प्रथाएं बिगड़ गई। आश्रम में चोरी के हमले होने लगे। वहां चौकी-पहरा तो रहता नहीं था। कई लोग ताले भी नहीं लगाते ने। 'रामराज्य' का प्रयोग करना था न! जो चुरा ले जाते थे, उनके खिलाफ जहां तक मुझे याद पड़ता है, पुलिस या थाने में शिकायत नहीं की जाती थी। तो यह प्रबन्ध हुआ

कि आश्रमवासी बारी-बारी से रात भर पहरा दें। इत्तफाक से एक चोर पकड़ में आ गया। रात मे पकड़ा गया तो उसे एक कोठरी में बन्द कर दिया गया। यों मारने-पीटने की तो मनाही थी; पर पकड़ने की धक्का-धूमी में उसे साधारण चोट या खरोंच आ गई थी। मुझे यह याद नहीं आता कि बापू उन दिनों वहां थे या नहीं, पर जो भी वहां थे, मगनलालभाई तो थे ही, उन्होंने सुबह उसे छोड़ दिया और उसे जो कुछ खरोंच वगैरह लगी थी, उसका दुःख कई आश्रमवासियों को हुआ। फिर बापू ने अपनी सही से आस-पास के गांव वालों के नाम एक पत्र छपवाया था, जिसमें चोर-डाकुओं को उनके धन्धे की बुराई बताई थी और गांव वालों को आश्रम के साथ चोरी रोकने के प्रयत्न में सहयोग की अपील की गई थी। यह विचार भी चला था कि आसपास के गांवों में जाकर प्रचार द्वारा वातावरण ठीक किया जाय। बापू को कोरे निषेधात्मक या विध्वंसात्मक कामों से संतोष नहीं होता था। वे कई बार जरूरी हो जाते थे। आपद्धर्म के तौर पर वे किये जाते थे; परन्तु वास्तव में वे रचनावादी-शान्तिप्रिय व्यक्ति थे। जबतक किसी लक्ष्य के लिए विध्वंसात्मक काम के साथ रचनात्मक प्रवृत्तियों का योग नहीं होता था तबतक वे उसे अधूरा, कच्चा काम समझते थे। 'सर्वोदय' या 'रामराज्य' का दारोमदार निषेधक—विध्वंसात्मक प्रवृत्तियों पर उतना नहीं है, जितना शान्तिपूर्ण रचनात्मक प्रवृत्तियों पर है। वह मुख्यतः भीतरी विकास की वस्तु है, बाहरी तोड़फोड़ या जोड़-तोड़ की नहीं।

× × ×

एक बार जंगली गायों ने आश्रम पर हमला कर दिया। वे या तो ठेठ जंगली थीं या घर से भाग कर जंगल में चली गई थीं। उनकी शक्लें देखकर ही डर लगता था। उनके साथ घरेलू गायों की तुलना करने से मालूम हो जाता है कि मनुष्य ने पशुओं को पालकर अहिंसा की दिशा में कितनी प्रगति की है। सवाल यह आया कि इनके हमलों को कैसे रोकें? पास जाना तो दूर रहा,

कुछ दूर खड़े रहने की भी सहसा कोई हिम्मत नहीं करता था। सोचा गया कि इन्हें पालतू बनाया जाय। आश्रम के पश्चिम की ओर तारों का एक अहाता बनाया गया और तरकीब से उन्हें उसके अन्दर पहुंचा कर फाटक बन्द कर दिया गया। उनके लिए घास, चारे, पानी का इन्तजाम कर दिया गया। मुझे जहां तक याद पड़ता है, उसमें से फिर एक-दो गायें आश्रम की गोशाला में आ भी गई थीं। जहां सांप, बिच्छू, चोर को मारने की मुमानियत थी, वहां गोमाता पर तो हाथ उठाने का सवाल ही नहीं था।

खेती में जो जीव-जन्तु मर जाते हैं, उनको बचाने की दृष्टि से भी बापू सोचा करते थे। परन्तु अन्न की उत्पत्ति में उन्होंने उसे अनिवार्य समझकर इतनी हिंसा को क्षन्तव्य मान लिया था; क्योंकि खेती के द्वारा जगत का पालन-पोषण होता है।

× × ×

आश्रम के अन्दर एक कुएं के पास पानी का एक छोटा-सा हौज़ था। एक सांप मेंढक खाने के लालच से वहां पहुंचा। मेंढक तो उसके मुंह की पकड़ में आ गया, पर सांप भी हौज में गिर पड़ा। मेंढक टर्र-टर्र करके बहुत छटपटाता था कि उसकी पकड़ से छूटे; पर काबू नहीं चलता था। इधर सांप भी पानी में परेशान था। मेंढक को छोड़ भी दे तो वह पानी के बाहर नहीं आ सकता था। एक तरफ मेंढक के खाने का लोभ, दूसरी तरफ प्राण बचाने का लोभ। दो लोभों के जाल में वह बुरी तरह फंस गया था। इधर मेंढक का करुण टर्र-टर्र नहीं सुना जाता था तो उधर सांप पर भी दया आती थी। कुछ आश्रमवासी सोचने लगे कि क्या किया जाय, जिससे दोनों की जान बच जाय। सांप को निकाल लेने पर भी मेढक का उसके जबड़ों से छुड़ाना मुश्किल था। यदि मेंढक को मरने देकर सांप को बचाते हैं तो हमलावर की रक्षा करके बेचारे निर्दोष मेंढक को मरने देने की स्थिति स्वीकार करते हैं। जो दया का पात्र नहीं, उसे तो बचाना और जो दीन, असहाय, हमले का शिकार हो गया था, उसे मरने देना, यह कहां का न्याय? ऐसे

धर्म-संकट में वे पड़ गये थे। बाद में क्या निश्चय किया, वह मुझे याद नहीं हैं; परन्तु मेरे इस घटना के उल्लेख के प्रयोजन को सिद्धि के लिए इतना कहना काफी है कि आश्रम के लोग अपने जीवन में कहां तक अहिंसा की साधना करना चाहते थे।

: २३ :

सबके प्रति सद्भावना

एक बार बापू के सामने एक अजीब समस्या पेश आई। बापू के एक परम मित्र का लड़का आश्रम में रहता था। वे बड़े धनाढ्य थे। उन्होंने आश्रम के पास ही अपना एक बंगला बनवा लिया था। उसीमें वह रहता था। लड़का बड़ा सीधा, भोला पर 'चक्रम्' था। उसका दिमाग भी ऐसा वैसा ही था। धन को देखकर एक लड़की के माता-पिता उससे सगाई करना चाहते थे। लड़की को भी उन्होंने राजी कर लिया था। कुछ लोग इसके विरोधी भी थे। लड़का शरीर और दिमाग से इस योग्य नहीं जंचता था कि आश्रम से संबंधित व्यक्ति की लड़की उससे विवाही जाय। मामला बापू के पास पहुंचा। इधर परम मित्र का लड़का, जो बापू की संरक्षता में ही रहता था। उधर लड़की के माता-पिता भी उनकी छत्रछाया में। फिर लड़के की योग्यता नहीं, पर धन का लोभ इस संबंध के मूल में था। एक-से-एक अनर्थ परम्परा! बापू की दुविधा का पार नहीं। पर बापू का पथ सत्य-अहिंसा के आदेश से हमेशा उज्ज्वलित रहता था। उन्हें माता-पिता को लड़के की सारी परिस्थिति समझाई। उन्होंने परावृत्त करने का प्रयत्न किया। लड़के के अभिभावकों को भी समझाया। उन्हें लड़की पाने का लोभ था; क्योंकि लडके को लड़की मिलना मुश्किल था। अतः वे घर आई लक्ष्मी को कैसे छोड़ें? इस धर्म-संकट में से बापू ने बड़ी खूशी से रास्ता निकाला। उन्होंने सोचा, असली बात लड़की के सुख-दुःख की है। हमारा काम दोनों पक्षों को सही मार्ग दिखाने का है। लड़की खुद भी अपने बुरे-भले का विचार

कर सकती है। उसको निर्णय के लिए हमने काफी विचार-सामग्री दे दी है। पहले वह खुद अपने लिए सोचे व फैसला करे। वह चाहती ही हो कि इस लड़के से शादी कर दी जाय, उसके परिणाम को भुगतने की उसकी तैयारी हो तो हमें आशीर्वाद दे देना चाहिए। आखिर में लड़की की शादी उसके साथ हो गई। जिसके सामने कोई सिद्धान्त और आदर्श स्थिर होता है, उसे ऐसे पेचीदा अवसरों पर रास्ता मिलने में ज्यादा कठिनाई नहीं होती। सबके प्रति शुभ की भावना रहने से यह काम और सुगम हो जाता है।

: २४ :

साफ नीति

गांधीजी सबकी भली-बुरी सब बातें बड़ी शान्ति से सुनते थे। व्यक्तियों की एक-दूसरे के खिलाफ जो शिकायतें होती थीं, उनमें वे अक्सर दोनों का सामना करके या तो निपटारा व समझौता करा देते थे या दोनों को उनकी त्रुटियां बड़ी मिठास से समझा देते थे। कोई उनसे जो कह जाता था, उसपर विश्वास रखने की उनकी प्रवृत्ति थी। जबतक किसी के खिलाफ कोई इल्ज़ाम साबित न हो जाय तबतक उसके साथ अपराधी का-सा बर्ताव नहीं करते थे, न अपने व्यक्तिगत व्यवहार में कोई फर्क आने देते थे। कटुता तो उन्हें छू भी नहीं गई थी। इस तरह की कुछ घटनाएं मुझे याद आ रही हैं।

एक बार राजस्थान के एक नेता बापूजी के पास पहुंचे। पहले वे श्रद्धेय स्व० जमनालालजी बजाज के साथ मिलकर काम करते थे, बाद में नीति-विषयक मतभेद हो जाने से अलग होकर स्वतन्त्र रूप से काम करने लगे थे। फिर भी यह महसूस करते थे कि जमनालालजी का सहयोग मिले तो ठीक रहे। इसी उद्देश्य से वे साबरमती गये थे। बापूजी ने उसकी सब बातें ध्यान से सुन लीं। तब उन्होंने जमनालालजी को बुलाया। कहा, "यह तुम्हारे

साथ सहयोग चाहते हैं। कहते हैं, अब मेरा आपकी नीति व सिद्धान्तों में पूरा विश्वास हो गया है। मैंने इनसे कहा है कि मुझे इस बात की खुशी है। आप अब अपना नया विश्वास एक लेख या वक्तव्य द्वारा लोगों पर प्रकट कर दें, जिससे आपका मार्ग साफ हो जाय और जमनालालजी का सहयोग मिलने में भी कठिनाई न रहे। सो तुम्हारा इस संबंध में क्या कहना है ?"

जमनालालजी की आदत नहीं थी कि खामखा किसी की शिकायतें करते। फिर बापूजी का तो ज्यादा-से-ज्यादा बोझा अपने पर लेने की भावना रखते थे, सो ऐसी शिकायतें करके उनका काम क्यों बढ़ाते ? वैसे भी जहां तक होता था, खुद ही ऐसे मामले निबटा दिया करते थे। उन्होंने अबतक इन नेता से अपने मतभेद की शिकायत तो दूर, जिक्र तक बापू से नहीं किया था। अब जब फिर से सहयोग का प्रश्न सामने आया तो उन्होंने तफसील से अपने मतभेद के कारण खुलकर उनके सामने रख दिये। महात्माजी को आश्चर्य हुआ व उन्होंने कहा, "ये सब बातें तुमने मुझसे आज तक नहीं कहीं ! लेकिन अब जब इनके विचार व नीति बदले हैं तो पुरानी बातों को भूलकर इनसे सहयोग करना ठीक है।" जमनालालजी शायद हिचकिचाये तो; पर बापू का प्रस्ताव मान्य करने जैसा ही था। उन्होंने कहा, "इनका वैसा वक्तव्य निकल जाय तो फिर मुझे कोई आपत्ति नहीं।" उन्होंने उक्त प्रसंग को लेकर मुझसे कहा था कि मैं तो अपने जीवन में ऐसी साधना करना चाहता हूं कि किसी से मेरा वैर-भाव न रहे और जो मुझसे किसी कारण दूर पड़ गये हैं, वे सब नज़दीक आते जावें। बापू की अहिंसा से मैंने यही सीखा है। पीछे कुछ विचार करने पर उन नेता ने वक्तव्य नहीं निकाला, इसलिए वह सहयोगी न हो पाया।

: २५ :

शरणागत-वत्सल

बीकानेर में स्व० सर गंगासिंहजी बीकानेर-नरेश के समय में स्व० श्री खूबरामजी सराफ तथा दूसरे कुछ व्यक्तियों पर राजनैतिक मुकदमा चल रहा था। मेरे एक मित्र ने बीकानेर डिफेंस कमेटी बनाई थी। राजस्थान का सेवक होने के नाते मेरी भी दिलचस्पी उसमें थी ही। महाराजा बीकानेर पर इधर-उधर के जोर पड़ चुके थे। मुकदमे ने काफी हलचल पैदा कर रक्खी थी। उस आग के आस-पास की रियासतों में फैल जाने का अन्देशा था, अतः खुद पोलिटिकल एजेन्ट महाराजा साहब से कह चुका था; पर महाराजा गंगासिंह अपने ढंग के बड़े तकड़े आदमी थे। आगे जाकर तो उन्होने कांग्रेस के सत्याग्रह-आन्दोलन को दबाने की पूरी योजना बनाकर वाइसराय को भी भेजी थी। उनके दकियानूसी विचार जग-ज़ाहिर थे। उन्होंने पोलिटिकल एजेण्ट को भी दाद नहीं दी थी। हमारे मित्र ने सुझाया कि महात्माजी की सहायता लेनी चाहिए। चुनांचे मैं उन्हें अपने साथ लेकर महात्माजी से वर्धा में मिला। उनके दरवाजे जाकर कौन निराश लौटा है! फिर उनका ही अपना एक सिपाही गुहार लेकर गया हो। उन्होंने तुरन्त बीकानेर महाराजा को पत्र लिख दिया और हम दोनों को सचेत कर दिया कि यह समाचार प्रेस में न आने पाये। मैंने तो किसी निजी मित्र तक से उसका ज़िक्र नहीं किया, क्योंकि मैं उस समय की नाजुक परिस्थिति व महात्माजी के आदेश के महत्व को अच्छी तरह समझता था पर मेरे मित्र इतना संयम न रख सके। उन्होंने अखबारवालों से तो कुछ नहीं कहा; पर एक निकटवर्ती मित्र से कह दिया। इसका सार्वजनिक उपयोग न करें, यह सूचना देना भी शायद वे भूल गये। उन्होंने एक तीसरे मित्र से जिक्र किया और मेरे अजमेर पहुंचने तक मै क्या देखता हूं कि अखबार में वह खबर छपी पड़ी है। मेरे तो सिर पर मनों ठंडा पानी पड़ गया।

अब बापू को क्या मुंह दिखावेंगे ? इसका न जाने क्या असर होगा ? इधर हमारे मित्र को जब मालूम हुआ कि यह खबर तो अखबारों में आ गई तो वे भी बिना मौत के मर गये-से हो गये। अब उन्हें अपनी असावधानता खाने लगी। उन्होंने फौरन महात्माजी को लिखा कि कसूर हरिभाऊ का नहीं है, मेरा है। बावजूद आपकी चेतावनी के मुझसे बड़ी भूल हो गई। इधर मैने बापू से माफी मांगी। बापू मुझपर बहुत बिगड़े। मैं तो सामने था नहीं। शायद महादेवभाई थे। उन्होंने मेरा पक्ष लेते हुए दबी ज़बान से कहा, "बापू, इसमें हरिभाऊ निर्दोष हैं।" बापू ने कहा, "मगर मैं दूसरों को क्या जानूं ! मैं तो हरिभाऊ को ही जिम्मेदार मानता हूं।"

इस संवाद की खबर जब मुझे लगी तो मैं सीधा वर्धा पहुंचा। बापू तो शरणागत-वत्सल ठहरे। जब कोई बिना लाग-लपेट के अपनी गलती उसके सामने कबूल कर लेता था तो वे उसकी हर तरह रक्षा करते थे और एक पिता के ममत्व से उसको छाती से लगाकर सही रास्ता बताते थे। मैंने अपनी जिम्मेदारी पहले ही कबूल कर ली थी। अब तो मैं उसका प्रायश्चित उनसे पूछने आया था। उन्होंने बड़े दुःखी स्वर से मुझसे कहा, "हरिभाऊ, तुम्हारे मित्र यह नहीं जानते कि उनका हित किसमें है। अब इस खबर के ज़ाहिर हो जाने से बीकानेर-महाराजा उन्हें छोड़ते होंगे तो नहीं छोड़ सकेंगे। तुमको पता है कि पोलिटिकल एजेण्ट को वे नाहीं कह चुके थे। यह बात प्रकट न होती तो मेरे पत्र के असर से तुम्हारा काम बनने की संभावना थी। अब जो शख्स पोलिटिकल एजेण्ट के कहने से मुल्जिमों को न छोड़े, वह गांधी के कहने से छोड़ दे तो उसे गद्दी ही छोड़नी पड़े। पोलिटिकल एजेण्ट उन्हें खा जायगा। अपने मित्र के साथ, जिन्हें तुम्हारे मित्र छुड़ाना चाहते हैं, अनजान में कैसा शत्रु का काम किया है ? खैर, अब इसका प्रायश्चित्त तो यही है कि आगे तुम मुझसे यह जानने की कोशिश न करना कि मैं इस विषय में क्या कर रहा हूं। तुमसे कहकर मैं

दुबारा जोखिम उठाना नहीं चाहता।" यह प्रायश्चित्त करके या सज़ा पाकर मैं अपना-सा मुंह लेकर घर लौटा।

: २६ :

आग्रही, पर एकांगी नहीं

जोधपुर के एक कार्यकर्त्ता थे—बड़े सच्चे, नेक और व्रत-संयम पर श्रद्धा रखनेवाले। ब्रह्मचर्य-साधन की बड़ी उत्सुकता उन्हें थी। विवाहित थे। विवाह हुए दो-चार साल ही हुए होंगे; परन्तु उन्होंने ब्रह्मचर्य से रहने का नियम बना लिया। ईमानदारी से उसके पालन की कोशिश भी करते थे; परन्तु एक बार वे बड़े परेशान थे—उनकी पत्नी का सहयोग नहीं मिला था। उन्हें बापू का एक वचन याद था कि दम्पति में से यदि एक भी पक्ष चाहे तो दूसरे की राह देखे बिना ब्रह्मचर्यव्रत ले सकता है। इसके अनुसार वे चल रहे थे। परन्तु बेचारी धर्मपत्नी की बड़ी बुरी दशा थी। जबरदस्ती के इस सयम से भीतर-ही-भीतर उसका मन कुण्ठित होने लगा। आखिर वह खब्तो-सी हो गई। शायद हिस्टीरिया भी हो गया था। उसकी शक्ल देखते ही तरस आता था। चेहरा उदास, आंखें शून्य में बदहवास-जैसी दीखती थीं। वे भाई बड़ी दुविधा में पड़े। मुझसे सलाह लेने आये। मैंने सीधे-सादे ढंग से व्यावहारिक सलाह दी कि आपको गृहस्थ-जीवन ही व्यतीत करना चाहिए। यह ब्रह्मचर्य आपको फलेगा नहीं। कुछ समझाया भी; पर बात उनके गले न उतरी। तब मैंने सुझाया—अच्छा, बापूजी से पूछ लो।

इत्तफ़ाक से थोड़े ही दिनों में बापू अजमेर स्टेशन से गुजरे। आयद अहमदाबाद जा रहे थे। अजमेर से ब्यावर स्टेशन तक मैंने उन दम्पती को बापू से बातचीत करने का अवसर दिला दिया। मैं भी मौजूद था ही। मुझे अपनी सलाह के औचित्य पर विश्वास था; परन्तु उत्सुकता थी कि बापू क्या सलाह देते हैं। मुझे बड़ा आनन्द हुआ, जब देखा कि बापू ने भी उन्हें ठीक वही सलाह दी,

जो मैंने दी थी। मगर बापू की एक दलील बड़ी लाजवाब थी। वही काम कर गई। उन्होंने कहा, "तुम्हारा ब्रह्मचर्य मुझे कच्चा मालूम होता है।" दोनों पति-पत्नी बोले, "नहीं, जबसे लिया है, तबसे बिल्कुल भंग नहीं हुआ है।" बापू बोले, "ठीक है, मगर उसका असर तुम्हारे (पत्नी के) मन पर अभी तक नहीं हो पाया। सच्चे ब्रह्मचर्य का यह परिणाम अवश्य निकलना चाहिए कि जो उसके सम्पर्क में आवे उसका मन विकारों की ओर से फिर जाय। यह तो, चौबीसों घंटे तुम्हारे साथ रहती है, फिर भी व्याकुलता से गृहस्थ-जीवन चाहती है, तो तुम्हारे ब्रह्मचर्य में ज़रूर कमी है और तुम्हें अपना आग्रह छोड़कर इसको संतोष देना चाहिए।" पत्नी का चेहरा खिल गया। उन भाई को भी ऐसा लगा कि एक परेशानी से छूटे।

बापू आग्रही तो थे; पर एकांकी नहीं थे। एक वैज्ञानिक की तरह वे अपने या दूसरों के प्रयोग को बड़ी बारीकी से देखते थे और उनके परिणामों पर से उनकी गहरी छान-बीन करते थे। इसीसे बड़े-बड़े और कुछ तो भयंकर समझे जानेवाले प्रयोगों से उन्हें सदैव बल, स्फूर्ति व प्रगति मिली है। गाड़ी कहां अटक रही है, वह फौरन भांप लेते थे और अधिकारी को देखकर वैसी सलाह उसे देते थे।

: २७ :

विरोधी को जीतने का अद्‌भुत जादू

बापू में सामने वाले विरोधी को आनन-फानन में जीत लेने का अद्भुत जादू था। अजमेर के मेरे एक आर्यसमाजी मित्र बापू के बड़े आलोचक थे। बापू के प्रति उन्हें श्रद्धा तो कम नहीं थी; परन्तु उनके विचारों, खासकर अहिंसा-सम्बन्धी विचारों को हानिकर मानते थे। बड़े स्पष्टवादी और मुंहफट थे। अक्सर कहा करते थे कि महात्माजी से मेरी भेंट करा दो तो मैं उन्हें खरी-खरी सुनाऊंगा। मैं 'हां-हां' तो कर दिया करता था; पर मन में डरता

भी था। संयोग से एक दिन बापू अजमेर से गुजरे और हम लोग स्टेशन पर उनके दर्शनार्थ गये। वे मित्र भी आ पहुंचे। मुझसे उनके सामने ही कहा, "मेरा परिचय करा दो।" अब तो मुझे बापू से कहना ही पड़ा, "बापू, ये हमारे आर्यसमाजी मित्र हैं। बड़े दबंग व आपके विचारों के आलोचक हैं। बहुत बार आपसे मिलने के लिए इन्होंने मुझे कहा है।"

बापू—(हंसते हुए) "हां, हां, जरूर। इनकी बातें तो जरूर सुनूंगा।" मित्र डिब्बे के अन्दर पहुंचे व खड़े-खड़े ही अपनी बौछार शुरू की। बापू सुनते रहे। उन्हें कुछ कहने का अवसर नहीं मिला था कि गाड़ी ने सीटी दी। मित्र की बात भी अधूरी रह गई। वे स्टेशन पर उतर पड़े।

मैं बापू के साथ ट्रेन में आगे गया। मित्र के अक्खड़पन पर मन में झेंप रहा था। अपनी झेंप मिटाने के लिए मैंने अपराधी की तरह कहा, "बापू, मैं जानता था कि ये आपको खरी-खोटी सुनावेंगे, मगर"—बीच में ही बापू, जैसे मेरी झेंप को भांपकर, बोले, "मगर मुझे तो अफसोस है कि ज्यादा वक्त नहीं था, नहीं तो मैं उनकी बातें और भी सुनता। उन्हें पूरा समय देता।"

मैं सकपका गया। बापू को मैंने कितना छोटा मान लिया था!

: २८ :

मीठी चुटकियां

बापू बड़ी मीठी चुटकी लिया करते थे। वह नसीहत से खाली तो होती ही नहीं थी। सामनेवाले को जाग्रत करने का यह अहिंसात्मक तरीका सिद्ध होता था। मैं आश्रम में रहा था, बापू के ही आदेशसे राजस्थान में काम करने आया था। उन्हें आश्रम-जीवन के अनुकूल ही मेरा जीवन देखने की अपेक्षा थी। मैं भी प्रयत्न तो ऐसा ही करता था; परन्तु एक बार बड़ी मुंह की खानी पड़ी। मैं पुष्कर गया हुआ था—सपरिवार। उस समय मेरे एक ही सन्तान

थी—शकुन्तला। वह चार-पांच साल की होगी। मेरी अजानकारी में मां ने उसे कान के बुन्दे ला दिये थे। उन दिनों वे नये-ही-नये चले थे। पुष्कर में शकुन्तला मेरे पास आई और बापू की गोद में पहुंच गई। उन्होंने बुन्दे पकड़कर हंसते हुए कहा, "अच्छा, हरिभाऊ की लड़की भी यह पहनती है!" मेरे काटो तो खून नहीं। अब यह कहता हूं कि माताजी ने मुझसे छिपाकर ला दिये हैं तो अपने छुटकारे के लिए मां को उनके सामने नीचा दिखाता हूं। मुझे लज्जित देख बापू शायद समझ गये। उससे पूछा, "क्यों, मांजी ने ला दिये हैं न?" शकु ने मेरी ओर देखते हुए गर्दन हिलाकर 'हां' का भाव प्रकट किया।

बापू बोले, "अच्छा, अच्छा, अभी तुम्हें आश्रम में और रहना चाहिए।"

× × ×

एक बार अजमेर स्टेशन से ट्रेन में जाते हुए बापू मेरे कुछ प्रश्नों का उत्तर दे रहे थे। बड़ी सूक्ष्मता से मुझे समझा रहे थे। किसी एक मुद्दे का मैं विचार करने लगा। अब ध्यान तो उस मुद्दे में लग रहा था—इधर बापू कहते जाते थे और मैं 'हां-हां' कहता जाता था। मेरी आंखों से बापू ने देख लिया कि मैं किसी और ही दुनिया में हूं। झट पूछ बैठे, "समझे?" मेरे मुंह से उसी समय हठात् निकल गया, "हां।" फिर हंसकर पूछा, "क्या समझे?" अब मुझे होश आया। जवाब क्या देता? समझा तो कुछ खाक भी नहीं था। उनका मुंह देखता हक्का-बक्का हो रहा। झेंपते हुए कहा, "बापू, मैं तो किसी और ही विचार में पड़ गया था। यों ही 'हां-हां' कहता रहा।"

बापू बोले, "सो तो मैंने देखा, तभी तो तुमसे पूछा। मैं बात करते समय सामने वाले की आंखों व चेहरे को देखता रहता हूं। जब यह मालूम होता है कि यह सुनी-अनसुनी करता है तो या तो बातचीत बन्द कर देता हूं, या विषय बदल देता हूं।"

× × ×

राहतजी ने एक आपबीती मुझे सुनाई थी। बापू आगरा आये थे। राहतजी उनसे मिलने गये। बापू ने दक्षिण भारत में हिन्दी-प्रचार का काम जब शुरू किया तब जो हिन्दी-प्रचारक वहां पहले-पहल पहुंचे थे, उनमे भाई क्षेमानन्दजी राहत भी थे। वे हिन्दी के अच्छे लेखक, कवि व बड़े विनोदशील थे। बापू से उनका तभी से संपर्क था। इन दिनों बे मेरे साथ 'त्यागभूमि' का संपादन कर रहे थे। 'त्याभूमि' का 'प्रताप-अंक' निकालना था। शायद उसी सिलसिले में मिलने गए थे। आगरे में बापू के डेरे पर ही ठहरे थे। बापू को कहीं जाना था। राहतजी भी साथ जाने वाले थे। वापू आगे चल पड़े, राहतजी पीछे रह गये। वे गले में मालवीयजी की तरह दुपट्टा डालते थे। उसे खोजने व गले में डालने में देर हो गई। बापू रुक गये। आते ही पूछा, 'क्यों, पिछड़ क्यों गये ?"

"दुपट्टा डालने में रह गया।"

"दुपट्टे की क्या जरूरत है ? देखो, मेरे तो नहीं है।"

"दुपट्टे से शोभा बन जाती है।"

"हां, लेकिन कीमत कम हो जाती है।"

: २९ :

योग्य उत्तराधिकारी

१९२८ में एक बार बापू को गश आ गया। कुछ ऐसे संयोग आकर जुट गये थे कि उनके निकटवर्त्तियों को ऐसा लगने लगा था कि अब बापू ज्यादा दिन नहीं रहेंगे। मैं इत्तफ़ाक से उस दिन वहीं था। मुझे जल्दी ही आश्रम से जाना था; परन्तु बापू की तबीयत देखकर जी हुआ कि पांच-सात दिन ठहरकर चलना ठीक रहेगा। श्रद्धेय जमनालालजी भी वहीं थे। बाद को हम दोनों को ऐसा लगा कि किसी भी—बड़े-से-बड़े—कारण से भी अपना निश्चित कार्य-क्रम बदलना बापू को अच्छा नहीं लगेगा, खासकर उनके खातिर। अब हम दुविधा में पड़ गये।

एक ओर पूज्य बापू के आशंकित विछोह की हृदय-विदारक कल्पना, दूसरी ओर कर्त्तव्य का व बापू की रुचि का आह्वान। अन्त में भगवान ने या बापू के पुण्य ने हमें बल दिया। हमने सोचा कि ऐसी कमजोरी रखने से तो बापू का बोझ बढ़ेगा। हमें बापू का मोह छोड़कर उनके कार्य का ही ध्यान रखना चाहिए। हम अपना निश्चय सुनाने व बिदा लेने बापू के पास गये।

वे खटिया पर पड़े हुए थे। डाक्टरों ने उन्हें पूर्ण आराम की हिदायत दी थी। श्री शंकरलालभाई बैंकर डाक्टरों से जोड़-तोड़ भिड़ाकर बापू को ज्यादा आराम देने व दूध आदि अधिक पिलाने का प्रयत्न कर रहे थे। शंकरलालभाई व जमनालालजी के मिज़ाज में यही अन्तर था कि शंकरलालभाई को बापू का मोह अधिक था, जबकि, जमनालालजी उनके काम का, उनका बोझ हल्का करने का ध्यान अधिक रखते थे। हमने बापू से कहा, "आपकी तबीयत देखकर हम अपना कार्य-क्रम बदल रहे थे। पीछे सोचा कि एक दिन तो ऐसा आने ही वाला है, जबकि आपका वियोग हमको सहना है। हमें उसकी तैयारी कर रखनी चाहिए। ऐसा न करके यदि हम आपके पास रहेंगे तो हमें तो बहुत ही बेफिक्री हो जायगी; परन्तु इससे आपको दुख ही होगा। आपको यह पसन्द नहीं कि आपके खातिर आपका काम बिगड़े। अतः हमने जाने का ही निश्चय किया है और यदि आपको ज्यादा दिन जीने देना है तो आपके काम का बोझ जितना हल्का किया जा सके, करना हमारा धर्म होगा।"

बापू बहुत प्रसन्न हुए। मुंह मटकाकर कहने लगे—"हां, तुम ठीक कहते हो। मुझे ऐसा नहीं लगता कि मुझे कुछ होने वाला है। परन्तु देह का क्या ? काम का ही विचार सदैव अच्छा होता। तुम लोग निश्चित होकर जाओ।"

"हम लोगों ने यह भी निश्चय किया है कि अबसे मामूली सलाह-मशविरे के अलावा आपको कष्ट नहीं देंगे। आपका

सिद्धांत भरसक समझ लिया है। असली बात तो उसका अमल करना है। इसके लिए तो दूर रहकर भी आपका आशीर्वाद मिलता रहेगा और वह हमें बल देता रहेगा।"

बापू—"हां, ठीक है। ऐसा ही सोचना चाहिए।" हमने प्रणाम करके विदा ली, मगर मन पर कुछ बोझ रहा ही। यही सप्ताह बापू के लिए कठिन कहा जाता था। उसके निकल जाने पर हमने संतोष की सांस ली व भगवान को अनेक धन्यवाद दिये।

: ३० :

बापू के पुण्य भाव से

बापू ने जेल में २१ दिन तक का उपवास किया था। मुझे जहां तक याद है, दूसरी गोलमेज-परिषद् के बाद जो दमन का दौर चला, उस सिलसिले की यह घटना है। शायद हरिजनों के संबंध में था। उन दिनों बापू पहले से ही कमज़ोर हो रहे थे। एकाएक यह समाचार सुनकर सबके होश फ़ाकता हो गए। लेकिन मेरे दिल ने कहा—बापू का कुछ भी नहीं बिगड़ सकता। लोकमान्य तिलक जब बीमार हुए तो न जाने क्यों मुझे ऐसा लगा था कि अब ये नहीं बचेंगे। और ऐसा ही हुआ। इस बार अन्तरात्मा ने कहा कि बापू इस उपवास से जीते-जागते निकल जायेंगे। उन दिनों मैं शान्ताक्रूज, बम्बई में इलाज करा रहा था। वहां के गांधी-भक्तों ने बापू के दीर्घजीवन के लिए एक प्रार्थना-सभा की आयोजना की। उसमें मेरा भाषण रखा गया था। ऐसे अवसर पर क्या बोलूं, कुछ समझ में नहीं आता था। लोग बहुत अधीर और बदहवास-से हो रहे थे। बापू के प्रति लोगों का जो सहज भक्ति-भाव था, उसे देखते हुए यह स्वाभाविक ही था; परन्तु मेरे मन में यह प्रश्न उठा कि क्या इस तरह हम बापू को संतोष पहुंचायेंगे? अपने को उनके सच्चे भक्त, शिष्य या उत्तराधिकारी साबित करेंगे?

इस प्रश्न ने मेरे दिमाग का दरवाजा खोल दिया। मैंने कहा—"मुझे तो तनिक भी डर नहीं कि बापू को इस उपवास से कोई आंच आवेगी। यद्यपि बापू का शरीर कमजोर हो गया है, फिर भी उसमें इतनी सात्विक शक्ति संचित है कि उनका बाल भी बांका नहीं हो सकता। दूसरे भोगी लोग अधिक खाते और अधिक गंवाते हैं, योगी थोड़ा खाते और अधिक संचित करते हैं। बापू अपनी इंद्रियों द्वारा जितनी शक्ति ग्रहण करते हैं, उससे बहुत कम खर्च करते हैं। अतः उनकी पूंजी बहुत है। साधारण भोगी जहां एक ही उपवास में ढीला-ढाला हो जाता है, वहां बापू जैसे योगी कई उपवासों को सहन करके भी शक्ति नहीं गंवाते; बल्कि उल्टा अधिक प्राप्त करते हैं। अतः हमें उनके विषय में चिन्तित होकर हतबुद्धि होने की आवश्यकता नहीं है।

"एक और बात। यदि बापू को जिलाना ही है तो हम रो-धोकर उन्हें नहीं जिला सकते। यदि वे सुनेंगे कि मेरे पीछे लोग रो-धोकर ही बैठ जाने वाले हैं तो वे जल्दी मरना पसन्द करेंगे। ऐसे निकम्मे उत्तराधिकारी को पीछे छोड़ जाने में बापू को जिन्दगी का लुत्फ नहीं मिल सकता। परन्तु यदि हम उन्हें यह संदेश भेजें कि बापू, हमें तो यह आशंका जरा भी नहीं है कि आपको इस उपवास में कुछ हो जागया; परन्तु यदि हो ही जाय तो आप विश्वास रखिए कि हम आपके अधूरे काम को पूरा करने में कोई कसर बाकी न रखेंगे, आप बहुत शांति व निश्चिन्तता के साथ देह छोड़ें, तो मैं समझता हूं, बापू जाने वाले भी अवश्य रुक जायेंगे। हमें उनके सामने निकम्मा नहीं साबित होना है।" लोगों के हृदय में यह बात बैठ गई। बाद को बापू इस अग्नि-परीक्षा से सही-सलामत निकल आए और उपवास सफल भी हुआ—पूना-पैक्ट के रूप में। मुझे ऐसा लगता है कि बापू के पुण्य-प्रभाव से ही मुझे ये विचार सूझे।

: ३१ :

पिता, गुरु और नेता

बिजोलिया (मेवाड़) के उदयपुर राज्य का समझौता कराके मैं सत्याग्रह में (१९३० में) जेल चला गया। बाद में मालूम हुआ कि उसकी एक शर्त का पालन राज्य की ओर से नहीं हो रहा है। इस समाचार से मुझे जेल में बड़ी बेचैनी हुई। यदि उस शर्त का पालन न हुआ तो किसानों के साथ बड़ा धोखा होगा और इसमें मेरी जिम्मेदारी कम नहीं है। जेल से न जाने कब छुटकारा होगा और जेल में बैठे अब उपाय भी क्या किया जा सकता है। ऐसी उधेड़-बुन में मेरा मन बड़ा अशांत रहने लगा। एक दिन मैं अपने मन को प्रार्थनामय कर रहा था कि मुझे एकाएका सूझा—यदि कुछ न बन पड़ा तो अन्त में मैं प्राणों की बाजी लगा दूंगा। जब कोई पक्ष समझौते को भंग करता है तो दूसरे पक्ष को उपवास करने का अधिकार हो जाता है। मैं आमरण उपवास करूंगा। इस विचार से मुझे बड़ी शांति मिली। जब किसी बात के लिए अन्तिम अस्त्र छोड़ने की—ज्यादा-से-ज्यादा कुरबानी करने की—तैयारी कर लेते हैं तब हममें हज़ार हाथी का बल आ जाता है। मुझे ऐसा लगने लगा मानो मैंने राजवालों से शर्त मनवा ही ली है।

जेल से छूटने पर मैंने जमनालालजी से अपना विचार कहा तो वे चिन्तित हो गए। वे मेरे स्वभाव को जानते थे कि मैं जो ठान लेता हूं, वह करके छोड़ता हूं। उन्होंने सोचा कि बापू के पास ले जाकर मुझे मनवा देंगे। मुझसे कहा—"ऐसा करो, हम बापू से इस विषय में चर्चा कर लें। वे जैसी सलाह दें, वैसा करना ठीक रहेगा।" उन्होंने बापू से कहा, "हरिभाऊ बिजोलिया के मामले में आमरण अनशन की सोच रहा है, बहुत सेंसिटिव (भावुक) है, इसलिए आपके पास लाया हूं। कहीं कुछ-का-कुछ कर न बैठे!"

"ऐसी सेंसिटिवनेस तो मुझे पसन्द है। जबतक मनुष्य में यह

रहती है तबतक उसे जीवित व प्रगतिशील समझो। अपने कर्तव्य का, जिम्मेदारी का, जिसे भान नहीं, वह मनुष्य ही क्या ? हरिभाऊ को इसका भान है, यह अच्छी बात है ; परन्तु मेरी समझ में इसे जल्दी करने की जरूरत नहीं है। यह जानता है कि उपवास तो अंतिम उपाय है। पहले और कोई कारवाइयां की जा सकती हैं।" फिर उन्होंने मुझे वहां रचनात्मक काम और संगठन करने की सलाह दी, लोगों मे फिर बल आ जाय और उसके द्वारा समझौते की शर्तें मनवाना आसान हो जाय। अन्त में एक दूसरा सत्याग्रह ही वहां करना पड़ा।

बापू में जितनी कद्र करने योग्य बात थी, उसकी कद्र की, जितनी अनावश्यक या अप्रासंगिक थी, उसके लिए मुझे समझाया व अन्त में रास्ता भी बताया। इसीसे वे पिता, गुरु, नेता, तीनों पदों को विभूषित कर सके थे।

मुझे संस्थाओं के बड़े व सूक्ष्म विधि-विधान नियम कार्य-साधक के बजाय कार्य-बाधक अधिक मालूम होते हैं। मेरे विधानवादी मित्रों से अक्सर मेरा झगड़ा हो जाया करता था। एक बार वर्धा में मैंने बापू से पूछा, "बापू, संस्थाओं के ये विधि-विधान तो मुझे मनुष्य को जकड़ते हुए-से मालूम होते हैं। मेरा अबतक का अनुभव तो यह है कि काम करनेवाले के मार्ग में तो ये बाधक होते हैं और जिन्हें काम नहीं करना है, बिगाड़ना है या बखेड़ा पैदा करना है, उनके लिए बड़े अच्छे साबित होते हैं। ये हमारे पांव की बेड़ियां हैं और उनके हाथ में कुल्हाड़ी हो जाते हैं। इनके कारण काम में देर भी बहुत लगती है और अपनी योजना, प्रस्ताव, कार्यक्रम पास कराने में बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है ; परन्तु यदि किसी को काम अड़ाना है तो फौरन किसी-न-किसी नियम या धारा का सहारा लेकर उसे रोक देता है। आप बैठे रहिए अपना-सा मुंह लेकर।"

बापू ने कहा—"तुम्हारा कहना ठीक है। जैसे-जैसे व्यक्ति या संस्था का विकास हो, वैसे-वैसे नियमों की पकड़—सख्ती—

भी ढीली होनी चाहिए। उनकी व्यापकता बढ़नी चाहिए। नियमों का पालन बाहरी दबाव से नहीं, भीतरी उत्साह से होना चाहिए। कहीं नियम मानना व कहीं तोड़ना, यह विवेक ही सत्याग्रह की कुञ्जी है, नियम-विधान को आमतौर पर मानने व पालने की वृत्ति से इसका विकास होता है। फिर एक समय ऐसा आ जाता है, जब मनुष्य का स्वभाव ही नियम-विधान-पालन का बन जाता है, तब नियम-विधान उसे बाधक नहीं मालूम होते।"

: ३२ :

सरदार की विशेषता

जयपुर-सत्याग्रह शुरू करने के पहले श्री जमनालालजी ने, जो इसके नेता थे, भाई हीरालालजी शास्त्री आदि जयपुर-राज्य-प्रजामण्डल की कार्यकारिणी के सदस्यों से कहा था कि यदि कार्य-कारिणी के पांच-छः सदस्य भी जेल जाने को तैयार हों, तो मैं पूज्य बापू के आशीर्वाद लेने का प्रयत्न करूंगा। उनकी शर्तें जो कुछ हों; परन्तु मेरी यह कम-से-कम शर्त है और मैं आशा रखता हूं कि बापूजी का आशीर्वाद मिल जायगा। यह शर्त मानकर श्री शास्त्रीजी, स्व० पाटणीजी, श्री हरलाल सिंहजी आदि बारडोली गये। उन दिनों बापू का पड़ाव बारडोली में था। मैं भी साथ था। वहां श्रद्धेय जमनालालजी ने उसी ऐतिहासिक बड़ के पेड़ के नीचे, जिसके नीचे बापूजी ने पहले महान सभायें की थीं, फिर अपनी शर्त को दुहराया और इन मित्रों ने अपनी प्रतिज्ञा दृढ़ की। बापूजी ने आशीर्वाद दिये और कहा कि इसके संगठन व तफसील का काम जमनालालजी करेंगे; परन्तु यहां सरदार (पटेल) भी मौजूद हैं। उन्हें बारडोली-सत्याग्रह का खूब अनुभव है, अतः उनकी भी सलाह ले लो।

बापूजी ऊपर के कमरे में थे, उसके ठीक नीचे सरदार का कमरा था। वे एक चटाई पर बैठे हुए थे। मैंने या शास्त्रीजी ने उनके सामने प्रश्न रक्खा—"हम लोग जयपुर में सत्याग्रह करना

चाहते हैं। बापू की सलाह लेने आये थे, अब आपसे भी सलाह लेना चाहते हैं।"

सरदार ने अपनी निराली अक्खड़ता से कहा, "सत्याग्रह करना चाहते हो या सत्याग्रह नहीं करना चाहते हो ?"

"सत्याग्रह नहीं करना होता तो बापू के पास आने की जरूरत ही नहीं थी ?"

"नहीं, यदि सत्याग्रह करना है तो बापू के पास आने की क्या जरूरत थी ? न करना हो तो उनके मत्थे टालकर बरी हो सकते हैं कि हम तो सत्याग्रह करना चाहते थे, बापू ने मना कर दिया !"

हम एक-दूसरे का मुंह देखने लगे। फिर सरदार बोले, "मैं तो जब कभी कोई काम शुरू करता हूं तो बापू से नहीं पूछता। कहीं शंका हो तो पूछना ठीक है। अतः यदि सत्याग्रह करना ही है तो अपने-आप से पूछकर निश्चय करो। न बापू की सलाह लो, न मेरी। सत्याग्रह तो आप लोगों को करना है, न कि हमें।"

सरदार की सीधी साफ बात का बड़ा असर हम लोगों पर हुआ। एक नया प्रकाश-सा मिला।

हमने कहा, "निश्चय तो हमने कर लिया है, जमनालालजी के नेतृत्व में सत्याग्रह होगा। बापू से सिर्फ आशीर्वाद चाहते थे। आपको बारडोली के सत्याग्रह का विस्तृत अनुभव है। अतः आपसे उसका लाभ उठाना चाहते हैं। बापूजी ने ही आपके पास भेजा है।"

"हां, तो ठीक।" कहकर बहुतेरी सूचनाएं उन्होंने दीं। उस समय की सरदार की मुख-मुद्रा और उनके दो-चार वाक्य आज भी मेरे सामने मूर्त्तिमान हो जाते हैं—"सत्याग्रह करना है तो बापू से क्या पूछना ?" इस एक ही वाक्य में सरदार के चरित्र की सारी विशेषता आ जाती है।

: ३३ :

बापू की सिखावान

बापू राजकोट का सत्याग्रह स्थगित करा चुके थे। उन दिनों कई देशी रियासतों में सत्याग्रह की धूम मच रही थी। जयपुर में तो चल ही रहा था। उसके नेता श्री जमनालालजी तथा कार्यकारिणी के सदस्य जेल में पहुंच चुके थे। कई सौ स्वयं-सेवक गिरफ्तार हो चुके थे। सत्याग्रह का दृश्य जयपुर में ऐसा दीखता था, मानो कोई रामलीला हो रही हो। बापू राजकोट से दिल्ली आ रहे थे। रास्ते मे हमें उनसे मिलकर जयपुर सत्याग्रह का हाल बताना था। देशपांडेजी व मैं उनसे मिलने शायद सोजत स्टेशन (मारवाड़) गये थे। जबसे हमने सुना कि राजकोट का सत्याग्रह बापू ने इसलिए बन्द करा दिया है कि सत्याग्रह के नियमों का पालन उसमें ठीक-ठीक नहीं हो रहा है, तबसे हमको भी चिन्ता हो गई थी; क्योंकि जयपुर सत्याग्रह में भी ऐसा हो रहा था। जेल से व जेल-कैंपों से ऐसी-ऐसी खबरें आ रही थीं कि मुझे डर हुआ कि बापू जयपुर का भी सत्याग्रह स्थगित करा देंगे। पहले तो विभिन्न जेल-कैंपों में जाकर तथा जयपुर में कार्यकर्त्ताओं से मिलकर उन सब बातों को ठीक करने का प्रयत्न किया, जो सत्याग्रह की दृष्टि से गलत हो रही थीं, फिर बापू को हमने सब हाल सुनाया। तब उन्होंने वही प्रश्न किया, जिसकी हमको आशंका थी—"तुम्हारा सत्याग्रह तो ठीक-ठाक चल रहा है न? कोई गड़बड़ तो नहीं है?"

हमारा चेहरा सूखने लगा। मैंने कहा, "बापूजी, कह तो नहीं सकते कि सब ठीक-ठाक चल रहा है, गलतियां तो हो ही रही हैं; परन्तु हम लोग पूरी-पूरी कोशिश कर रहे हैं कि गलतियां रुकें व आगे न होने पावें। आपके आदर्श का खयाल तो बहुत रखते हैं; परन्तु मंजे व सधे हुए कार्यकर्त्ता थोड़े हैं। नये-नये ज्यादा हैं। जो ज्यादा जिम्मेदार थे, वे सब जेल में बन्द हैं। फिर भी हम

आपको दुःख का कारण नहीं पैदा होने देंगे।" मैंने यह सब कहा तो, पर भीतर-ही-भीतर मेरा दिल बैठा जा रहा था।

बापू गम्भीर हो गये—"हां, सो तो मैं जानता था। अच्छा, दिल्ली चलकर और बातें करेंगे।" फिर राजकोट के सत्याग्रह की एक-एक त्रुटि बताने लगे, ताकि हम अपनी जिम्मेदारी और अच्छी तरह से समझ लें।

अन्त में दिल्ली जाकर उन्होंने यह सलाह दी कि सत्याग्रह स्थगित कर दिया जाय। मुझे कुछ ऐसा याद पड़ता है कि बाद में उन्होंने बहुत सीमित रूप मे चुने हुए लोगों द्वारा सत्याग्रह करने की छूट दे दी थी। जो हो, उस समय उनका भाषण यहां देने योग्य है।

हम—"बापूजी, एकदम स्थगित कर देने से तो लोग हतोत्साह हो जायगे, साथ ही यह भ्रम भी फैल जायगा कि सत्याग्रह में अशुद्धि होने से बापूजी ने बन्द कर दिया।"

बापू—"लेकिन मै चाहता हूं कि तुम लोग मुझे एक मौका दो—और इसलिए मैं कहता हूं कि सत्याग्रह स्थगित कर दो।"

अब तो हम लाजवाब हो गये; लेकिन बापू देख रहे थे कि हम लोग खिन्न व निरुत्साह हो रहे हैं। बोले, "देखो, मै मानता हूं कि जयपुर का मामला हल करने के लिए तो अकेले जमनालाल-जी ही जेल में पड़े रहें तो काफी है। उनकी कुरबानी को भी यह सरकार पचा नहीं सकेगी। और मैं एक बात कहता हूं—उसे तुम लोग अपने ही तक रखना। लार्ड लिनलिथगो मुझसे पहले ही कह चुके हैं कि जयपुर का मामला मैं निपटा दूंगा।"

"लेकिन ये लोग जब हमारा आन्दोलन तेजी पर होता है तब आश्वासन देते हैं, पीछे टालमटूल करते हैं।"

"हां, ऐसा भी होता है; परन्तु लार्ड लिनलिथगो को मुझे कुछ समय देना चाहिए। और इसलिए मैं तुम लोगों से समय मांगता हूं। लार्ड लिनलिथगो चाहे भी तो एकाएक उसे—तत्कालीन जयपुर का एडमिनिस्ट्रेटर जो अंग्रेज़ था—हटा नहीं

सकते। उसके लिए उन्हें जमीन तैयार करनी पड़ती है, जिसमें काफी समय लग जाता है। नीचे के अफसरों को राजी करना पड़ता है। देखो, मुझको तो तुम लोग इतना मानते हो, फिर भी जो बात मैं चाहता हूं, तुम लोगों से आसानी से व झट-पट थोड़े ही करा पाता हूं। कई बातें तो मुझे छोड़ भी देनी पड़ती हैं। मेरे पास तो कोई ऐसा कड़ा तन्त्र नहीं है, फिर भी इतनी दिक्कत पेश आती है। वाइसराय तो कठोर तन्त्र से बंधा हुआ है। अतः उसे मुझसे भी अधिक समय चाहिए।"

अब जब कभी दूसरों से कोई काम लेने या करवाने के अवसर आते हैं तो बापू के ये वचन बहुत धीरज बंधा देते हैं और प्रकाश-पथ का काम देते हैं।

: ३४ :

सही सलाह

महाराष्ट्र के कुछ अखबार जमनालालजी पर ऐसे इल्जाम लगाते थे कि ये कांग्रेस के खजान्चीपन का दुरुपयोग करते हैं—रुपये-पैसे में गड़बड़ करते हैं। जमनालालजी ठहरे व्यापारी आदमी। एक व्यापारी व्यवसायी के लिए प्रत्यक्ष धन की अपेक्षा साख की कीमत ज्यादा होती है। जमनालालजी को लगा कि ऐसे हमलों का यदि मैं प्रतिकार न करूं, चुपचाप बर्दाश्त करता रहूं तो लोग, खासकर व्यापारी, यही समझेंगे कि कुछ दाल में काला है। उनके मन में उथल-पुथल मच रही थी कि क्या उपाय करें। ले-देकर 'मानहानि' का मुकदमा उन पत्रों के संपादकों पर चलाने की बात उनके मन में आया करती थी। वे यह भी सोचते थे कि मानहानि की नालिश करने से अपने आप हमारे बहीखाते अदालत में पेश होंगे, सामने वाली पार्टी को उनकी जांच व छानबीन का अच्छा अवसर मिलेगा जिससे लोगों का भ्रम अपने आप दूर हो जायगा। इत्तफाक से उन दिनों श्री घनश्यामदासजी बिड़ला भी वर्धा ही थे। तब महात्माजी सेवाग्राम रहने नहीं गये थे।

जमनालालजी ने घनश्यामदासजी से राय मांगी। मै भी मौजूद था। हम दोनों ने कहा कि मानहानि के मुकदमे के चक्कर में पड़ना फिजूल है। इस विषय में मैने स्व० गणेशजी—शहीद गणेशशंकरजी विद्यार्थी—की एक नसीहत सुनाई, जो मुझे उन्होंने कानपुर में एक अवसर पर दी थी। १९२० में मैं गणेशजी का 'पर्सनल असिस्टेन्ट' रहा था। 'प्रताप' का देशी-राज्य विभाग मेरे जिम्मे था। इन्दौर के एक बदनाम पुलिस अफसर के बारे में मैने ऐसी टिप्पणी लिख दी, जो 'मानहानि' में आ सकती थी। इंदौर से उनके वकील ने गणेशजी को नोटिस भेजा। गणेशजी चिन्ता में पड़ गये। मुझसे कहा, "भाऊजी, राजद्रोह का मुकदमा अच्छा, मानहानि का मुकदमा तो पिछले जन्म के पाप का उदय ही समझो। 'प्रताप' पर कई मानहानि के मुकदमे चले हैं। हमने डटकर उनका सामना किया है, पर मैं जानता हूं कि कितनी मुसीबत व बरबादी उठानी पड़ी है। राजद्रोह से तो हम तुरन्त शहीद बन जाते हैं और चारों ओर से प्रशंसा, मान और धन की वर्षा होने लगती है। परन्तु 'मानहानि' को लोग व्यक्तिगत मामला समझकर छोड़ देते हैं और कोई भाव नहीं पूछता। राजद्रोह में वकील भी कई बार मुफ्त मिल जाते हैं; पर मानहानि में सब रुपये मांगते हैं। अतः आयन्दा 'मानहानि' की जोखिम हरगिज़ मत उठाना। इस मामले को तो मैं निपटा लूंगा।"

मैंने यही किस्सा जमनालालजी को सुनाया; पर उन्हें कुछ जंचा नहीं। आखिर तय हुआ कि चलो, बापू से पूछें। तीनों बापू के कमरे में पहुंचे। जमनालालजी की बात सुनकर बापू ने पूछा—"तुम्हारे वर्किंग कमेटी के सदस्य क्या सोचते हैं? उनका तुमपर विश्वास है या नहीं?"

"उनका तो यह हाल है कि मैं हर साल खज़ान्ची-पद से इस्तीफा देता हूं, कहता हूं किसी दूसरे को बना लो; पर वे हर बार मुझी को चुनते हैं। मैं इसलिए भी इस्तीफा देता हूं कि आपने मुझे इसके लिए बहुत बांध रखा है। मुझसे अपनी व्यक्तिगत

जिम्मेदारी का खत लिखवाया है, यह मेरे लिए बड़ी जोखिम है। मैं इससे भी छूटना चाहता हूं; परन्तु वे लोग नहीं मानते।"

"हां, तो फिर क्या चाहिए; जबतक आपके साथियों का विश्वास आपपर है, तबतक आपको कुछ भी करने की जरूरत नही है—मानहानि का मुकदमा चलाना तो ठीक नहीं है। इससे कुछ फायदा नहीं होगा। मैंने जो तुमको खत लिखकर बांधा है सो तो मैं अपने नज़दीक के लोगों के साथ ज्यादा कड़ाई ही बरतता हूं, सो तुम जानते हो। इसीमें उनकी व सार्वजनिक जिम्मेदारियों व संस्थाओं की रक्षा होती है। जहां तक तुम्हारे बहीखाते व हिसाब-किताब की शुद्धता से संबंध है, तुम उन्हें बम्बई के अपने दफ्तर में एक नियत समय पर आम लोगों के देखने के लिए खुले रख सकते हो।"

परन्तु जमनालालजी ने आखिर 'मानहानि' का मुकदमा चलाना ही ठीक समझा। और अंत में अखबार वालों को सजाएं हुई। बहीखाते अदालत में मंगाये गये और वे शुद्ध पाये गये। यह लाभ तो हुआ; फिर भी इससे जमनालालजी को असमाधान ही रहा और उसे उन्होंने मुझपर प्रकट भी किया। वे खरे आदमी थे; कहने लगे—"आप लोगों का कहना ही ठीक था। इस मुकदमे में कोई लाभ नहीं हुआ। जो सजा इन्हें मिली, उससे कहीं ज्यादा प्रचार इस मामले का हुआ। सजा को लोग यह कहकर उड़ा देंगे कि जमनालालजी जैसे प्रभावशाली व्यक्ति के मुकाबले में वर्धा में कौन जीत सकता था; किन्तु इल्ज़ामों का प्रचार न जाने कहां-कहां के अखबारों में हुआ होगा।

: ३५ :

मीठा विनोद

बापूजी का जीवन प्रयोगमय था। यह तो सभी जानते हैं, उनका विनोद व मीठा व्यंग भी मजेदार हुआ करता था। एक बार कच्चे अनाज खाने का प्रयोग हुआ। साबरमती में मदरास के

एक अन्नशास्त्री आये। वे अनाज को विधिवत भिगोकर खाने के लिए देते थे। आश्रम के कई लोग इस प्रयोग में शरीक हुए। बाद में वह छोड़ दिया गया। एक रोज शाम को बापू अपनी कुटिया के आंगन में, खुले में, खटिया पर लेटे हुए थे। बा सिर में तेल मल रही थीं। सामने वह मदरासी महाशय खड़े थे। हम कुछ लोग आस-पास जमा हो गये थे। मदरासी सज्जन ने कहा—"बापू, दूध तो मनुष्य की खुराक नहीं है। मां का दूध ही मनुष्य की स्वाभाविक खुराक है। आप जो बकरी का दूध पीते हैं, यह भी ठीक नहीं है। पशु का दूध पीने से पशु के गुण आ जाते हैं।"

बापू के सोने का वक्त नजदीक आ रहा था। बापू खिलखिला कर हँस पड़े और सोने के लिए अपनी टांग लम्बी करते और चादर ओढ़ते हुए बोले—"हां, आप ठीक कहते हैं। देखो बकरी का दूध पीने से मेरे सींग उगने लगे हैं। अब तुम लोग भागो, नहीं तो सींग मार दूंगा।"

हम सब लोग मारे हँसी के उछल पड़े। मदरासी भाई भी इस व्यंग का रसास्वादन करते हुए रवाना हो गये।

: ३६ :

बापू की महानता

१९३४-३५ में बापू हरिजन-यात्रा के लिए निकले थे। अजमेर व ब्यावर भी गये थे। मैं साथ था ही। ब्यावर थोड़ी ही देर ठहरे थे। स्नान व भोजन का प्रबन्ध वहीं रखा गया था। बापू के व्यक्तिगत कार्य का ध्यान वहां मैं रखता था। मुझे वैसे बापूजी की व्यक्तिगत सेवा के अवसर मिले ही नहीं। मुझे उनके शारीरिक सेवा की अपेक्षा उनके कार्यों की फिकर ज्यादा रहती थी, फिर उनकी कड़ाई से भी डरता था। किन्तु यहां तो उन्हें सम्भालना ही था। मैं बड़ी तत्परता से और बारीकी से सब बातों का ध्यान रखता था। बापू नहाने के लिए अपना कच्छा व तौलिया लेकर कमरे में गये। मैं बाहर खड़ा रहा इस फिराक में

कि बाहर निकलें तो मैं कपड़े धो डालूं। बापू को बड़ी देर लगी। मुझे अचरज हुआ कि क्या बापू नहाने में इतना वक्त लगाते हैं। आशंकाएं होने लगीं, मन भीतर से बेचैन होने लगा; पर आवाज लगाने की हिम्मत नहीं होती थी। इस उधेड़-बुन में परेशान था ही कि कमरे का दरवाजा खुला—बापू हाथ में धुले हुए कपड़े लेकर बाहर निकले। मैं देखकर अवाक् रह गया। कुछ झल्लाये स्वर में बापू से कहा—"यह आपने क्या किया? मैं तो इसीलिए जबसे यहां खड़ा हूं कि आप बाहर निकलें तो कपड़े धो डालूं। आपको बड़ी देर लगी तो मैं चिन्ता में भी पड़ गया था।"

"धो लिये तो क्या हुआ, आज समय था तो सोचा चलो, कपड़े भी धोता चलूं।"

× × ×

इसी यात्रा के दिनों में अजमेर के एक मित्र के द्वारा स्वर्गीय अर्जुनलालजी सेठी ने बापू से कहलवाया, या शायद उन मित्र ने ही अपनी तरफ से प्रस्ताव रखा कि बापू सेठीजी के घर मिलने जावें। सेठीजी अपने ढंग के स्वतन्त्र व्यक्ति थे। बापू के प्रति श्रद्धा भी थी और उनसे लड़ भी पड़ते थे। कानपुर-कांग्रेस में उन्होंने बापूजी को बहुत खरी-खोटी सुनाई थी और बापू शांत चित्त से सब सुनते रहे। उन दिनों सेठीजी कांग्रेस-संगठन से भी दूर पड़ गये थे। उन मित्र को लगा कि यदि बापू उनके यहां चले जायं तो सेठीजी के दिल का सारा मलाल धुल जाय, बापू के प्रति फिर श्रद्धा-भक्ति का प्रवाह उनके मन में उमड़ पड़े व उनकी शक्ति फिर कांग्रेस व बापू के कामों में लगने लगे। बापू ने मुझसे पूछा—"क्यों, तुम्हारी क्या राय है?"

"हां बापू, जाने में तो कोई हर्ज नहीं है; परन्तु मुझे यह विश्वास नहीं होता कि इससे सेठीजी की वृत्ति में कोई खास फर्क पड़ जायगा। आप जाना चाहें तो अवश्य जायं।"

"तो तुम साथ चलोगे न?" उन दिनों सेठीजी मुझसे खास तौर पर नाराज थे। इसलिए बापू ने पूछा।

"क्यों नहीं ? सेठीजी को मैं अपना बुजुर्ग मानता हूं, हालांकि वे मुझसे नाराज हैं। आपको शायद मालूम नहीं है कि सेठीजी जब वेलोर जेल से छूटकर इंदौर आये थे तो मैं उन लोगों में से था, जो उनकी जय के नारे लगाते थे और एक देवता की तरह भक्ति-भाव से उनके चरणों पर अपना मस्तक रखकर अपने को कृतार्थ मानते थे। आज मुझे दुःख है कि वह स्थिति इतनी बदल गई।"

"तो जाना ही ठीक है, तुम जैसा कहते हो वैसा ही नतीजा निकले—तो भी हमें शुभ कार्य करते हुए हिचकिचाना न चाहिए। तात्कालिक परिणाम अच्छा या मनोवांछित न निकले तो भी शुभ कार्य व शुभ भाव का जो परिणाम निकलेगा वह अच्छा ही होगा। बुरा हरगिज नहीं हो सकता। अतः जाने में अच्छे परिणाम की आशा तो रखनी ही चाहिए।"

सेठीजी तो बापूजी को अपने घर में पाकर गद्‌गद् हो गये। हम लोग भी आनन्दविभोर हो उठे। वह पुण्य स्मृति आज भी मुझे गद्‌गद् कर देती है। बापू की अहिंसा की थाह कौन ले सकता था ? इसीसे वे लगभग अजातशत्रु बन गये थे।

: ३७ :

लेने के देने

इसी अजमेर-यात्रा का एक चिरस्मरणीय संस्मरण और याद आ रहा है। बापू के एक पुराने मेजबां ने उन्हें अपने यहां शाम को भोजन करने का निमत्रण दिया। कुछ नौजवान उनसे नाराज थे। बापू की इस यात्रा में जो स्वयंसेवकों का जत्था तैयार किया था, उसके मुखिया व कुछ स्वयसेवकों ने ठान लिया था कि वे बापू को उनके यहां न जाने देंगे। पू० ठक्करबापा बापू के साथ यात्रा मे थे और उसी मकान में ठहरे थे जिसमें बापू का डेरा था। मै भी वहीं था। स्वयसेवकों के प्रतिनिधियों ने हमसे कहा कि हम तो बापू को वहां नहीं जाने देंगे। बापू की मोटर के सामने लेट जायंगे।

हम चिन्तित हो उठे। आखिर यह समझौता हुआ कि स्वयंसेवकों का एक डेपुटेशन सुबह बापूजी से मिले। उन्हें उन भाई के बारे में जो कुछ शिकायतें हों बापू से कह दें। उन्हें सुन लेने पर बापू यदि जाना उचित समझें तो भले ही जायं। वे समझते थे कि बापू अंधेरे में न रहें। हमने निश्चिन्तता की सांस ली।

रात के कोई २॥-३ बजे होंगे। इस समय मेरी नींद अक्सर खुल जाया करती है। उस दिन भी खुली तो बापू के कमरे में तेज बत्ती की रोशनी दिखाई दी। मैंने सहज उत्सुकता से दरवाजे में झांका तो बापू बैठे हुए कुछ लिख रहे थे। मैं दंग रह गया। इधर मेरे मुंह से निकल गया, "बापू, यह क्या ?" उधर उन्होंने कहा—"क्या तुम भी जाग रहे थे ? कुछ कहना तो नहीं है ?"

मुझे यों कुछ भी नहीं कहना था। पर बापू के पूछते ही मुझे स्वयंसेवकों के डेपुटेशन वाली बात याद आ गई। मेरे मन में एक बिजली-सी चमकी कि मैं ही क्यों न बापू के सामने वे सब शिकायतें रख दूं। वे स्वयंसेवक अपने रोष में बढ़ा-चढ़ाकर बापू से कहेंगे। मैं उसी काम को ज्यादा अच्छी तरह से निबाह दूंगा। अतः मैंने आगा-पीछा न सोचकर बापू से कह दिया—"हां, कुछ बात कहनी है।" बापू ने कलम रख दी और कहा—"कहो, क्या कहना है ?"

स्वयंसेवकों ने उन भाई के खिलाफ जो कुछ हमसे कहा था, मैंने संक्षेप में बापू के सामने रख दिया। बापू गंभीर हो गये। बोले—"तुम कुछ जानते हो ?"

"हां बापू, सुनी तो मैंने भी ऐसी ही बातें हैं।"

"तो मैं कल तुम्हारा मुकाबला उनसे कराऊंगा।"

मुझे तो कुछ सूझ नहीं पड़ा। कह दिया—"अच्छी बात है।" अब मैं मन में सिटपिटाया कि अच्छे लेने के देने पड़े। 'धर्म करते कर्म फूटे' वाली बात हो गई। वे मित्र आये और बापू ने मुझे बुलाया। उनसे कहा कि हरिभाऊ ने मुझसे आपके संबंध में ये-ये बातें कहीं हैं। आपका क्या कहना है ?

उन्होंने उन बातों से इन्कार कर दिया और मुझपर नाराज हुए। बोले—"आपको मुझपर शक था तो आपने मुझसे क्यों नहीं पूछा ? बिना मुझसे बातचीत किये आपका बापू से यह सब कहना कहां तक ठीक था ? सत्याग्रही का यही धर्म है ?"

मैं लज्जित हो गया। मैंने कहा—"आपकी बात बिलकुल ठीक है। मुझे आपसे ही बात करनी थी ; परन्तु मैंने तो बापू से अपनी तरफ से कोई शिकायत नहीं की। दूसरे लोगों ने चिन्ता-जनक अवस्था व समस्या खड़ी कर दी थी। उसके निवारण के लिए मैंने बापू से यह सब कहा। इसमें मेरा उद्देश्य आपके प्रति बुरा नहीं था। बल्कि एक भयंकर रूप से उपस्थित होनेवाली कुपरिस्थिति को बचाना था। फिर भी इस दोष के लिए क्षमा मांगता हूं।"

तब बापू ने उनसे कहा—"अच्छा, तो इस संबंध में पहले आप व हरिभाऊ बातचीत कर लें, फिर मुझसे मिलें।"

हमने अपनी बातचीत की जो रिपोर्ट बापू को सुनाई, उसपर बापू ने उन मित्र के खिलाफ फैसला नहीं दिया। उन्होंने मुझसे कहा, "जबतक ये शिकायतें सच साबित नहीं हो जातीं तबतक मुझे इन्हें निर्दोष ही मानना होगा। और जबतक मैं इन्हें निर्दोष मानता हूं तबतक इनके यहां जाना मेरा कर्त्तव्य है। मैं ऐसा न करूं तो अपने धर्म से चूकूंगा।"

फिर रात को मुझे बुलाकर कहने लगे—"देखो हरिभाऊ, इस विषय में छानबीन करके तुम अपनी एक राय बना लो। इस तरह बिना सोचे समझे किसीके लिए कुछ कहना ठीक नहीं है। इससे या तो उस व्यक्ति के प्रति अन्याय होता है या फिर प्रमाणाभाव में हम सच्चे होते हुए भी झूठे दीखने लगते हैं। फिर ऐसी बातें झूठ-मूठ भी उठा करती हैं। तिल का ताड़ भी बना दिया जाता है। ऐसे समय एक बार तो अपनी आंखों को भी धोखा हो सकता है।" यह कहकर उन्होंने आप-बीती सुनाई। उसी दिन उनके पास एक पर्चा शायद किसी इटेलियन का आया था जो

उसने बापू को अपने एक पत्र के साथ भेजा था। पर्चे में लिखा था कि हिन्दुस्तान में दो स्काउंड्रल (बदमाश) हैं। एक अलवर के महाराजा, दूसरा गांधी। साथ के पत्र में लिखा था—गांधीजी, आप हैं तो पक्के 'स्काउंड्रल'; पर हैं बड़े सत्यवादी और सत्यप्रेमी। अतः मुझे विश्वास है कि मैने आपके लिए अपने पर्चे में जो सत्य बात लिखी है, उसकी अवश्य कद्र करेंगे।

मैं पढ़कर दंग रह गया। बापूजी पर इतना भयंकर व ऐसे घड़ल्ले से इल्जाम! दुनिया में ऐसे आदमी भी हो सकते हैं?

मुझे स्तंभित और अवाक् देखकर बापू बोले—"इसने यों ही नहीं लिखा है। आंखों देखी रिपोर्ट के आधार पर लिखा है। तुम विश्वास करोगे?"

अब तो मैं सन्न रह गया। "बापू, आप क्या कहते हैं? विश्वास करूं। संसार में कोई भी इसपर विश्वास नहीं कर सकता। यह तो कोई राक्षस मालूम पड़ता है।"

"नहीं, ऐसी बात नहीं है। विलायत में मेरे खिलाफ जो प्रचार किया गया है उसका यह नमूना है। जब मैं गोलमेज-परिषद् में विलायत गया तो तत्कालीन वाइसराय विलिंग्डन ने, खास तौर पर, ऐसी बातें ठेठ सम्राट् तक पहुंचाई थीं। और लोगों ने बहुत बुरा प्रचार किया। मंशा उनकी यह थी कि लोगों पर मेरा प्रभाव न पड़े। गांधी, जिसे लोग महात्मा मानते हैं, वह ऐसा बदमाश आदमी है, यह वे इंग्लैंड के लोगों व सम्राट् को जंचाना चाहते थे। कहा गया है कि आंखों देखी बातें हैं।"

"और जानते हो, आंखों देखी क्या बात थी?" नहीं तो, मुझे तो कुछ भी पता नहीं है।"

उन्होंने किस्सा कहना शुरू किया, "डांडी-कूच के समय हमारे डेरे में एक तरफ स्वयंसेवक और दूसरी तरफ कुटिया के आसपास स्वयंसेविकाएं सोती थीं। स्वयंसेविकाओं को मैं अपने आसपास सुलाता था। ज्यों-ज्यों अफवाहें आने लगीं कि मेरी गिरफ्तारी जल्द ही होनेवाली है, लोगों की सतर्कता बढ़ती जाती थी। वे

किसी भी क्षण, खासकर रात में गिरफ्तारी हो जाने की आशंका करते थे। एक रोज रात को पुलिस गिरफ्तारी के लिए आई। आहट पाकर लड़कियां जाग गईं और रोने लगीं। मैं अपनी गोदी में एक का सिर रखकर तसल्ली दे रहा था। पुलिस अफसर ने सर्चलाइट से मुझे इस अवस्था में देखा। उसने बम्बई के गवर्नर तक को रिपोर्ट पहुंचाई कि रात में गांधी को हमने लड़कियों के साथ इस तरह देखा। पुलिस-अफसर अंग्रेज था। गवर्नर भी अंग्रेज। उन्होंने इसका अनर्थ करके मेरे विरुद्ध खूब प्रचार करवाया। इसलिए मैं कहता हूं कि ऐसी बातों पर बिना छानबीन किये राय बना लेना गलत है। किसी के बारे में अनुकूल राय जल्दी बना लेना एक बार अच्छा है; पर बुरी राय बनाने में हमेशा सुस्ती करनी चाहिए।"

: ३८ :

बापू की विलक्षणता

१९४० में व्यक्तिगत सत्याग्रह शुरू हुआ था। प्रान्तों से चुने हुए सत्याग्रहियों की सूची बापू की मंजूरी के लिए जाती थी। अजमेर प्रांतीय कांग्रेस कमेटी की ओर से मैं सूची लेकर गया। मेरे नाम का जिक्र चला। बापू ने कहा, "तुम्हारा स्वास्थ्य ठीक नहीं रहता, तुम्हें जेल नहीं जाना चाहिए।" मैंने कहा—"बापू, मेरा स्वास्थ्य ऐसा तो जरूर है कि जेल जा सकूं।" बापू इसपर कुछ बिगड़े। त्यौरी चढ़ाकर कहा—"आखिर तुम्हें जेल जाने का इतना मोह क्यों है?" मैं जवाब दे नहीं पाया था कि कोई और बात निकल पड़ी। मैंने बापू से कहा—"मुझे आपकी बात का जवाब देना है, सो कोई दूसरा समय दें तो अच्छा रहे।" बापू ने फिर जरा त्यौरी चढ़ाकर कहा—"जवाब देना चाहते हो? जानते हो, (मुस्कराकर) मैं सेनापति हूं। सिपाही सेनापति को जवाब नहीं दे सकता। उसका काम आज्ञा मानना है। अच्छा, फिर मिल लेना।"

बापू के कमरे के बाहर निकलने पर महादेवभाई ने कहा—"आजकल बापू डिक्टेटर की स्पिरिट में हैं। आपका 'जवाब' देना शब्द उन्हें अच्छा नहीं लगा।"

थोड़ी देर के बाद पूज्य बा ने कहा, "हरिभाऊ, आज बापू ने तुम्हें अपने साथ भोजन करने के लिए कहा है। बापू के पास ही बैठना।"

अब तो मुझे चिन्ता होने लगी। बापू अहिंसात्मक नश्तर लगाया करते थे। जब किसी को कोई कड़ी बात पिलानी होती तो पहले अपने स्नेह, वात्सल्य से उसे नहला दिया करते थे। पास बैठना तो वात्सल्य का चिह्न था, पर मैं समझ गया कि बापू मुझसे कुछ कठिन काम चाहते हैं। मैंने अक्सर देखा था कि बापू की जब किसी से कोई त्याग या कष्ट-सहन कराना होता था तो पहले वे उसकी प्रशंसा करते थे। 'यंग इंडिया' में जब किसी व्यक्ति की प्रशंसा बापू करते थे तो हम लोग आपस में मजाक में कहा करते थे कि अब बापू इनसे कुछ बड़ा काम लेना चाहते हैं। अतएव मैं किसी कठिन परीक्षा की तैयारी करके भोजन करने गया। बापू ने अपनी थाली में से कुछ प्रसादी दी। अब तो मैं मन में बहुत डर गया। बापू ने धीरे-से बड़े प्यार-भरे शब्दों में मुस्कराते हुए पूछा—"हां, तुम मुझे कुछ जवाब देना चाहते थे न?" मैंने कहा—"बापू, जवाब नहीं, सफाई देना चाहता था।"

"हां-हां, सफाई तो दे सकते हो।"

"बापू, आपने पूछा था कि तुम्हें जेल जाने का ऐसा मोह क्यों है? सो मोह की बात नहीं, पर भला जिस लड़ाई के आप सेनापति हों, उसमें आपके एक सिपाही की इच्छा नाम लिखाने की हो तो इसमें आश्चर्य क्यों होना चाहिए? नाम न दे तो अलबत्ता उसके लिए लज्जा की बात होगी? मैं आपका सिपाही तो हूं ही। मेरी सेवाएं आपके सुपुर्द हैं। अब आप आज्ञा दें कि मुझे जेल नहीं जाना है, बाहर रहना है तो मुझे यह शिरोधार्य है। सिपाही के नाते मैं आपकी आज्ञा का उल्लंघन नहीं कर सकता। इसमें मेरी क्या

गलती है ?"

"हां, सो तो ठीक है, तुम्हारा नाम तो मेरे पास पहले ही से लिखा पड़ा है। जब मैंने आमरण उपवास करने वालों की सूची मांगी थी उसमें तुम्हारा नाम आया था। मुझे याद है। तभी से तुम्हारा नाम सूची में है। मगर बात यह है कि इस समय मैं कुछ खास लोगों को, जिन्होंने सत्याग्रह व अहिंसा को समझ लिया है, प्रत्येक प्रांत में पीछे रखना चाहता हूं, जिससे वे लड़ाई को गलत रास्ते न जाने दें। तुम तो कई बार जेल हो आये हो। फिर जब मैं जरूरत समझूंगा तो तुम जैसों को झोंकते हुए थोड़े ही हिचकने वाला हूं।"

एक बार दिल्ली में मेरे पूज्य पिताजी के साथ हम लोग पूज्य बापू के दर्शनार्थ गये। वे शायद शिमला या सीमाप्रान्त से आये थे और डा० शौकत अन्सारी के बंगले पर (राजपुर रोड) ठहरे थे। काम में बहुत व्यस्त थे। बाहर जाने की तैयारी चल रही थी। हमारे बहुत देर तक इन्तज़ार करने के बाद महादेवभाई ने भीतर बुलाया और बुलाते ही चेतावनी दी—"बापू आज बहुत थक गये हैं। ज्यादा बात मत करना।" महादेवभाई की यह चेतावनी मुझे अच्छी नहीं लगी, क्योंकि मैं बापू से बिना काम न कभी मिलता था, न कोई चिट्ठी लिखता था। मिलने पर भी मिनटों में काम की बातें कर लेता था। उस दिन तो मुझे कोई खास बात भी नहीं करनी थी। हां, जब-जब बापू दिल्ली आते, पिताजी जरूर उनसे मिलते। उन्हें मिलाने के लिए मैं ही साथ आया था। बापू मेरी इस बात से वाकिफ थे, फिर पिताजी साथ थे। मैंने देखा कि महादेवभाई की सख्ती उन्हें भी अच्छी नहीं लगी। उनकी आंखों में कुछ सुर्खी हो आई, इतने ही में पिताजी ने व मैंने उन्हें प्रणाम किया। मैंने कहा—"पिताजी आपको प्रणाम करने आये थे। बस, अब जाते हैं।" बापू ने दृढ़ता के स्वर में कहा—"नहीं नहीं, अभी बैठो।" महादेव ने तो अपना कर्तव्य किया है। मैं कुछ इतना थका नहीं हूं।"

"लेकिन हमें कोई खास बात भी तो नहीं करनी थी।" किन्तु फिर भी उन्होंने कुछ देर तक बिठाके थोड़ी बातचीत के बाद ही जाने दिया। मुझे ऐसा लगा मानों बापू महादेवभाई की सख्ती का परिमार्जन कर रहे हों।

× × ×

इसी समय का एक दृश्य याद आ रहा है। बापू नीबू का पानी पी रहे थे। कोई दूसरा चम्मच प्यारेलालजी ने उस दिन उन्हें दे दिया, रोज़मर्रा वाला नहीं था। सामान बांधने की जल्दी में कहीं इधर-उधर रख दिया था। बापू पीछे पड़ गये—वही चम्मच लाओ, उसे दूसरी जगह रख ही कैसे दिया? मुझे यह याद नहीं पड़ता कि बाद में क्या हुआ। बापू अपने जीवन व व्यवहार की छोटी-से-छोटी बात का भी कितना आग्रह रखते थे, इसका यह नमूना है। वे जीवन को नियम व अनुशासन-बद्ध बनाने में विश्वास रखते थे। अपने संबंध की थोड़ी भी गफलत, सुस्ती, भूल को वे क्षम्य नहीं समझते थे। उदार व क्षमाशील भी ऐसे कि बड़े-से-बड़ा कुसूर भी माफ कर देते ओर छोटी-छोटी बातों पर भी बड़ा ज़ोर दिया करते।

एक बार अत्यन्त निकटवर्ती ने लिखा—बापू, मेरा मन सिगरेट पीने को बहुत होता है। मैं मन को बहुत समझाता हूं; किन्तु मानता नहीं। तो अब क्या करूं?

बापू उन्हें बहुत संयमी और समझदार आदमी मानते थे। उन्होंने जवाब दिया—तुम सिगरेट जरूर पियो और कोई पूछे तो यह कहो कि बापू ने मुझे इजाजत दी है।

बापू ने देखा कि इतना संयमशील व्यक्ति यदि अपने मन से हार रहा है तो अवश्य बात उसके काबू के बाहर हो रही है। उसे छोड़ देना ही अच्छा है। यदि मेरे संकोचवश न पिये, या दूसरे उसको बुरा कहें तो अपने हवाले की प्रेरणा करके उलटा बल दिया। जहां साधारण आदमी के मन में घृणा पैदा हो सकती थी वहां बापू की इस अनुकम्पा की कोई तुलना नहीं है।

इसी तरह एक बार एक शख्स ने संतति-नियमन के लिए कृत्रिम उपायों के अवलम्बन करने की अनुमति मांगी। बापू को उनकी असहाय अवस्था पर दया आई और कहा—तुमसे नहीं रहा जाता है तो भले कृत्रिम उपाय काम में लो; परन्तु यह समझो कि तुम अच्छा काम नहीं कर रहे हो। इससे किसी दिन तुम्हें उससे छूटने की शक्ति मिल जायगी।

: ३९ :

प्रज्ञावान बापू

लाहौर-कांग्रेस के बाद नमक-क़ानून-भंग के रूप में सत्याग्रह का आयोजन हो रहा था। उसपर विचार करने के लिए साबरमती या अहमदाबाद में शायद कांग्रेस-महासमिति की मीटिंग होनेवाली थी। उसमें सम्मिलित होने के लिए पण्डित मोतीलालजी नेहरू अहमदाबाद जा रहे थे। अजमेर स्टेशन पर हम कुछ कांग्रेस-कार्यकर्त्ता उनसे मिले। नमक-सत्याग्रह की बात चल पड़ी। हम लोग कुछ कल्पना नहीं कर सके थे कि नमक-कानून तोड़ा किस तरह जायगा। बापूजी ने उसकी कोई तफसील नहीं बताई थी। हमने पण्डितजी से पूछा। उन्होंने कहा—"गांधीजी की सनक है। हमारी तो खाक समझ में नहीं आता कि नमक-कानून कैसे तोड़ेंगे और उसका सरकार पर कितना दबाव पड़ेगा। कहीं टांय-टांय फिस न हो जाय! पर भाई, गांधीजी हैं। उनका कुछ कह नहीं सकते। नई-नई बातें निकालते हैं और जादू-सा कर दिखाते हैं। उनसे मिलने पर ही सब बातें मालूम हो सकती हैं।"

साबरमती जाकर हम क्या देखते हैं कि पण्डितजी नमक-कानून-सत्याग्रह के कायल हो गये और उसके पक्ष में लोगों को समझा रहे हैं। गांधीजी का कायदा था कि जब कोई बात उन्हें सूझती थी तो पहले वह अपने दिमाग में उसका खाका खींच लेते थे। यह खाका भी कई दिनों के मंथन के बाद ऐन वक्त पर अच्छा खिंचता था। तब वह अपने निकटवर्तियों के सामने उसका चित्र

रखते, उनकी आलोचना सुनते, शंकाओं का समाधान करते और अंत को अकेले पड़ जाने की जोखिम उठाकर उसपर भी डटे रहते। नमक-कानून-भंग की सफलता का उतना चित्र शुरू में लोगों के दिमाग में नहीं बैठा था, जितना बाद में दिखाई दिया। लोग कहने लगे थे कि गांधीजी के छठी इन्द्रिय है, जो कठिन-से-कठिन परिस्थिति में उन्हें अचूक उपाय सुझाती है। एकाग्रता व तन्मयता का खूब अभ्यास हो जाने से ऐसी स्फूर्ति उदय होती रहती है। प्राचीन ऋषि-मुनियों के लिए कहा जाता है कि जब कोई कठिन समस्या पेश आती थीं तो वे ध्यान करते थे और सारा रहस्य उनकी समझ में आ जाता था या उसका हल मिल जाता था। हज़रत मुहम्मद पैग़म्बर के लिए भी यही कहते हैं कि जब कोई नया मसला पैदा होता था व सामान्य बुद्धि से वे उसे हल नहीं कर पाते थे तो बेहोश हो जाते थे, वही आती थी और वे उसका जवाब देते जाते थे। मन की एकाग्रता, ध्यान-चिन्तन की पराकाष्ठा के फलस्वरूप प्राप्त समाधि की ही यह एक अवस्था है, जो यान्त्रिक नहीं, प्रज्ञा का एक रूप या अंग है। गांधीजी को यह सहज साध्य हो गई थी।

: ४० :

परदुःखकातरता

छोटी-बड़ी गलतियां सबसे होती हैं। दूसरे लोग गलतियों पर फटकार बताते हैं, सजा देते हैं, गांधीजी दया व प्यार की वृष्टि कर उसे शुद्ध करते थे। जिसने हृदय खोलकर उनसे सब कुछ कह दिया उसके रक्षक व पथदर्शक बन जाते थे। यदि हम भूल या दोष से दब जाते हों, हिम्मत टूटती हो तो खुद अपनी गलतियों का हवाला देकर ढाढ़स बंधाते।

एक बार सावली (चांदा जिला, मध्यप्रदेश) में गांधी-सेवा-संघ का पहला सम्मेलन हुआ। सभा की कार्रवाई चल रही थी। बापूजी ब्रह्मचर्य, संयम या चरित्र-शुद्धता पर कुछ कह रहे थे। एक

मदरासी सज्जन उठे व एकाएक कहने लगे, "बापूजी, मैं पापी हूं, मैंने बड़ा दोष किया है।" शायद अपने दोष का कुछ बयान भी करना चाहते थे। बापू उनके सहसा हृदयोद्‌गार से इतने द्रवित हुए कि उन्हें शांत करके बोले—मानो बरबस उनके मुंह से निकला —"भाई, बैठ जाओ, तुम ही नहीं, हम सब पापी हैं।" उस समय उनका गला मानो करुणा से भर आया हो। बात यह थी कि उन भाई ने ब्रह्मचर्य का व्रत धारण किया था और वह टूट गया था— या तो वर्धा में या शायद खुद सावली में ही। इसकी वेदना से वह व्याकुल हो उठे थे; लेकिन बापू ने उतनी ही दयार्द्रता से उन्हें छाती से लगा लिया।

४१ :
जीत में हार

१९२८-२९ में हम लोगों ने अजमेर में कांग्रेस का चुनाव लड़ा। कांग्रेसियों में आपस में ही चुनाव हुआ। मतदाता के लिए खादी पहनने की शर्त थी। दोनो दलों के मिलाकर १४,००० सदस्य बने। इतने खादीधारी तो थे नहीं। हमारे प्रतिपक्षियों ने तो थोड़े से कपड़े बनवा लिये व बारी-बारी से पहनाकर वोट दिलाने लगे। उनकी यह चालाकी पकड़ी गई। चुनाव रद्द हुआ। मैंने बापूजी को इसकी सूचना दी। बापूजी ने फौरन मुझसे पूछा— "तुम्हारे पक्षवालों ने तो कोई गलती नहीं की है?" मेरे साथी कुछ घबरा गये; क्योंकि ऐसी खबर लगी थी कि बावजूद हमारी कोशिश के कुछ लोगों ने कुछ अनियमितता कर डाली थी। सवाल हुआ कि बापू को क्या जवाब दिया जाय? मैंने कहा, जो जैसी बात हुई हो, बापू को लिख दी जाय। जहांतक मुझे याद है, अनियमितता तत्कालीन कांग्रेस के विधान या परिपाटी के अनुसार तो नहीं थी, पर बापू के मान-दण्ड से वह अनुचित ही हो सकती थी। मैंने उत्तर दिया—आपके स्टैंडर्ड से हम लोग भी अवश्य कुछ दोषी हैं, कांग्रेस के स्टैंडर्ड से नहीं गिर रहे हैं। कई लोग नये हैं जो

अभी कांग्रेस की रीति-नीति से भी वाकिफ नहीं हैं, फिर आपके उच्च आदर्श की तो बात ही दूर है; परन्तु हमारा सच्चे दिल से यही प्रयत्न है कि आपकी परीक्षा में पास हों।" हम दिल में घबरा जरूर गये थे। बापू ने हमारी कठिनाई व परेशानी को समझ लिया। हमें लिखा—चिन्ता करने की जरूरत नहीं, सच्चे दिल से शुद्धि का प्रयत्न करते रहो।

अंत में कांग्रेस-कार्यसमिति ने हमारे पक्ष में फैसला दिया—कांग्रेस के नियम की दृष्टि से उसे नियमित ठहराया। जब रिटर्निंग आफीसर श्री किदवई साहब ने इसपर मुझे मुबारकबादी दी तो मैंने कहा—यह कानूनी विजय है, नैतिक नहीं। अतः हम जीत जाने पर भी बधाई के पात्र नहीं हैं। हमारे पक्ष के स्टैंडर्ड का ऐसा असर किदवई साहब पर पड़ा था कि हमारे खिलाफ जो शिकायतें हमारे प्रतिपक्षी उन्हें भेजते थे, वे मुझे जांच के लिए भेज देते थे।

: ४२ :

सच्ची नसीहत

अजमेर में एक बार हमने खादी व ग्रामोद्योग-प्रदर्शनी की। उस सिलसिले में किले की एक बुर्ज पर ऊंचा राष्ट्रीय झंडा फहराया। श्रद्धेय जमनालालजी के हाथों उसका उद्घाटन हुआ। तत्कालीन चीफ कमिश्नर या कमिश्नर का आर्डर मंत्रियों—(सर्वश्री कृष्णगोपाल गर्ग व बालकृष्ण गर्ग) के नाम आया कि दो घंटे के अन्दर झंडा उखाड़ लो, नहीं तो कानूनी कार्रवाई की जायगी। उन दिनों सत्याग्रह-आन्दोलन स्थगित था व बापू का सख्त हुक्म था कि बिना उनकी इजाजत कोई कानून न तोड़े। अब हम बड़े पसोपेश में पड़ गये। दो घंटे के अन्दर बापू से सम्पर्क करके उनसे इजाजत नहीं ली जा सकती, इधर ऐसे अपमानजनक हुक्म को मानने के लिए कोई तैयार नहीं था। मानने से मानो आत्मघात होता था, अजमेर-मेरवाड़ा की जनता की जागृति पर

ठंडा पानी डाल देना था। इस धर्म-संकट में हमने एक कसौटी अपने सामने रक्खी। कोई भी निर्णय हम करते हैं तो एक-न-एक तरह की गलती होती है। हमें वह फैसला करना चाहिए—वह गलती करनी चाहिए, जो हमें बहादुरी की तरफ—कष्ट-सहन की तरफ ले जाती हो, न कि वह जो हमें बुज़दिली के गड्ढे में गिराती हो। हमारे मंत्रियों ने झंडा उतारने से इन्कार कर दिया। फलस्वरूप ४-४ महीने कड़ी कैद पाई व जेल में भी काफी कष्ट सहा।

अब सवाल हुआ कि बापू क्या कहेंगे ? मैंने बापू को पत्र लिखा कि सिपाही के नाते हम लोगों को आपसे बिना पूछे सत्याग्रह नहीं करना चाहिए था, परन्तु जो परिस्थिति यहां थी—वह उन्हें सविस्तर लिख दी गई। उसमें बहादुरी की तरफ गलती करना ही हमने उचित समझा। अब आपके फैसले की राह देख रहे हैं।

बापू ने इसका जवाब तो उस समय कुछ न दिया, अलबत्ते 'हरिजन' में हमारे पक्ष को पुष्ट किया। फिर जब मैं मिला तो पूछा—"बापू, आपने हमारे प्रश्न का उत्तर नहीं दिया ! हमने गलती की या ठीक किया ?" उन्होंने कहा—मेरी समझ से तो तुम लोगों ने अनुशासन का भंग किया है; परन्तु तुम्हारी मजबूरी को मैंने समझ लिया। गलती तुमने सही दिशा में की है, इसलिए मैंने अपने ढंग से 'हरिजन' में तुम लोगों के हाथ मजबूत किये हैं। जवाब इसलिए नहीं दिया कि तुम लोगों के खिलाफ उसका दुरुपयोग हो सकता था।

× × ×

एक बार आश्रमवासी मेरे एक मित्र की लड़की से एक मित्र के विवाह करने की इच्छा हुई। वे जानना चाहते थे कि लड़की भी चाहती है या नहीं। लड़की बालिग थी। मुझे इसमें कुछ हर्ज नहीं मालूम हुआ और मैंने लड़की से पूछ लिया। जब उसके अभिभावकों को यह बात मालूम हुई—मुझे तो कुछ छिपाना

भी नहीं था—तो उन्हें एतराज हुआ कि हरिभाऊ ने बिना हमारी इजाजत के क्यों बातचीत की। वे इस संबंध को बिलकुल नापसन्द करते थे। बापू ने मुझसे पूछा तो मैंने सरल भाव से बता दिया कि घर की लड़की-सी समझता हूं, सो पूछ लिया। बापू को भी यह ठीक नहीं लगा। उन्होंने पूछा—यदि शकुन्तला (मेरी लड़की) से कोई इस तरह तुमसे बिना पूछे, ऐसी बातचीत करे तो तुमको पसन्द होगा ?

"जैसी आत्मीयता मैं इस लड़की के पलकों से रखता हूं वैसा ही कोई व्यक्ति पूछे तो मुझे कोई आपत्ति न होगी, क्योंकि उसमें दुर्भावना या सन्देह का कोई कारण नहीं हो सकता।"

"तो मैं कहता हूं, तुम पिता होने के नाते शकुन्तला के प्रति अपने कर्त्तव्य से च्युत होते हो और इस भ्रम में तुमने इस लड़की से बातचीत करके...का अपराध ही किया है। तुम्हें उनसे क्षमा मांगनी चाहिए।...को काफी दुःख हुआ है।"

"मुझे यह कल्पना नहीं थी कि इसमें उन्हें एतराज होगा और दुःख होगा। यह तो स्वप्न में भी मुझे नहीं सूझा था। मैं तो उलटा यह समझता था कि ऐसे मामलों में माता-पिता या पालक सीधे बात नहीं करते, मुझ जैसे मित्रों से ही पुछवाते हैं, अतः मुझे इसमें कोई आशंका नहीं हुई थी। अब यदि उन्हें दुःख हुआ तो मेरा धर्म है कि उनका दुःख जिस तरह दूर हो वह करूं। केवल माफी ही नहीं, वे और भी कुछ चाहें तो करने में मुझे दिक्कत न होगी।"

"सो तो मैं जानता हूं, तुम्हारा कोई दुर्भाव होता तो मैं दूसरी तरह से पेश आता। कई बार सद्भावना से भी हम ऐसे काम कर जाते हैं, जिनपर आपत्ति हो सकती है, अपने प्रियजनों को दुःख पहुंच सकता है। अतः मनुष्य को बहुत सावधानी से बरतना चाहिए। जैसा हम अपने साथ चाहते हैं वैसा ही व्यवहार हम दूसरों के साथ करें—यह नियम सामान्यतः ठीक है; परन्तु सच्चा नियम यह है कि हम दूसरों से आजादी से काम लें और

दूसरों को अपने से ज्यादा आजादी लेने-देने की प्रवृत्ति रक्खें। अच्छा जाओ...से बातचीत करो।"

मैंने उनसे माफी मांगी। वह सकुचा गये। बोले—जैसा बापू ने समझा है, ऐसा कुछ मुझे नहीं लगा है। तुम्हारे बातचीत करने पर मुझे इतना नहीं लगा जितना इस संबंध को मैं नापसन्द करता हूं। तुम्हारी बातचीत से मुझे व्यर्थ की परेशानी हो गई। मुझसे तुम पहले बात करते तो मैं तुम्हें सारी परिस्थिति बता देता। खैर!

मैंने इससे यह सबक लिया कि केवल अपनी ही दृष्टि से सोच लेना काफी नहीं है, सामनेवाले को इसमें क्या आपत्ति हो सकती है, उसपर क्या असर पड़ सकता है, फिर वह हमारा आत्मीय ही क्यों न हो, यह सोच लेना भी जरूरी है। जो मनुष्य अपनी मर्यादाओं को समझकर चलता है, वह खुद भी शांति पाता है व दूसरों को भी अशांति से बचा लेता है।

: ४३ :

संयम की शिक्षा

बापू स्त्री-जाति के आधुनिक शंकराचार्य ही हुए हैं। उन्होंने बहनों को निर्भय, तेजस्वी, अग्रसर, सेवा-परायण बनाने का जितना प्रयत्न किया है उतना शायद ही किसी पुरुष ने अबतक किया हो। जब वह बहनों के विषय में बोलते थे तो ऐसा लगता था मानो किसी स्त्री की ही व्याकुल आत्मा बोल रही है। वह स्त्रियों के साथ स्त्रीत्व का अनुभव करते थे, ऐसा कहें तो अत्युक्ति नहीं। धीरे-धीरे उन्होंने भारत की स्त्रियों को पुरुष के समकक्ष ही नहीं, आगे बढ़ा दिया। सामाजिक क्षेत्र में केवल विधवा-विवाह ही नहीं, परित्यक्ता-विवाह, असवर्ण-विवाह आदि का भी रास्ता खोल दिया व चौड़ी सड़कें बना दीं। बाल-विधवाओं के लिए तो उन्होंने यहांतक कह दिया कि ये तो कुंवारी ही हैं। इनका विवाह तो पहला विवाह समझकर ही करना चाहिए। विवाहिताओं को

भी उन्होंने पुनर्विवाह की अनुमति दे दी—ऐसी एक घटना याद आ रही है।

१९२७ की बात है। राजस्थान के एक संभ्रांत परिवार की वधू ने पहले पति को छोड़कर दूसरे से शादी कर ली। पहले पति-वालों ने बापूजी से शिकायत की या शायद लड़की ने ही बापू से दाद-फरियाद की थी। बापूजी ने जांच का काम मुझे सौंपा। मुख्य मुद्दे बापू ने ये बताये कि लड़की क्यों दूसरा विवाह करने पर उतारू हुई और कि आया उसने अपनी मर्जी से शादी की है? दोनों पक्ष के लोगों से सारा किस्सा सुनकर मैंने पूर्व पति को समझाया कि इस लड़की को वापस बुलाने में कोई सार नहीं है। दोनों में से किसी-को भी शांति नहीं मिल सकती। मुझे जहांतक याद है, वह लड़की दूसरे पति के ही यहां रहने गई थी। बापू मानते थे कि यदि स्त्री पर अत्याचार होते रहते हैं या वह छोड़ दी जाती है तो उसे दूसरा विवाह करने का अधिकार होना चाहिए और पुरुषों को मुकदमा चलने व जेलखाने की जोखम उठाकर भी ऐसी स्त्रियों से विवाह कर लेना चाहिए। वह संयम और ब्रह्मचर्य के पुजारी थे, परन्तु साथ ही अत्याचार और जिल्लत की जिंदगी को भी कभी बरदाश्त नहीं करते थे। विवाहित जीवन में भी वह संयम व ब्रह्म-चर्य पर जोर देते थे। वह कहते थे कि जो जितनी अधिक स्वतंत्रता चाहता है, उसे उतना ही अधिक संयमी होना चाहिए। वास्तव में संयम ही मनुष्य को स्वतन्त्रता देता है, असंयम से वह उसका अधि-कार खोता जाता है।

: ४४ :

रुपये का सद्व्यय

एक बार एक धनी व्यक्ति ने बातचीत में बापू को बताया कि वह सरकार से इनकम-टैक्स बचा लेते हैं। वह अंग्रेजी शासन का जमाना था। कई हजार रुपये बचे थे। बापू सुनकर कुछ देर चुप हो रहे। उनकी मुख-मुद्रा से ऐसा लगा, मानो उन्हें यह पसंद नहीं

आया। उन सज्जन से शायद उन्होंने ऐसी आशा न रखी हो। परन्तु सज्जन ने साफ़ दिल से बापू से कह दिया था, अतः उनकी रक्षा करना भी उन्हें शायद जरूरी मालूम हुआ। उन्होंने कहा—"तो फिर ऐसा करो कि यह रुपया अच्छे काम में लगा दो।" उन्होंने फौरन मंजूर कर लिया।

: ४५ :

सरल-सादे आचार्य राय

एक दफा वर्धा में आचार्य राय बापू से मिलने आये। वह एक साधु-सन्त कोटि के पुरुष थे। उनके त्याग की सीमा नहीं थी। विज्ञान के, खासकर रसायन-शास्त्र के पीछे उन्होंने विवाह तक नहीं किया। कहते थे—"मैंने कैमिस्ट्री से शादी कर ली है। अब दो पत्नियों को नहीं रख सकता।" सरलता बच्चे के माफिक, सादगी मजदूरों को भी मात करती थी। एक बार मै कलकत्ते में उनके दर्शन के लिए गया तो वह साइन्स-यूनिवर्सिटी के विशाल भवन के एक पिछले कोनेवाले कमरे में मामूली खटिया पर बैठे थे। यदि पास में नारियल—हुक्का—पड़ा हुआ होता तो कोई उन्हें मछुआ ही समझता। बापू की सादगी में फिर भी एक शान रहती थी; परन्तु आचार्य राय ठेठ देहाती मालूम होते थे। सरोजनीदेवी मिलने आईं तो इस तरह लिपट गये जैसे बच्चा मां से लिपट जाता है। श्री बसन्तकुमार मजूमदार सपत्नीक आये तो दोनों को एक-एक चांटा रसीद किया, दोनों के सिर आपस मे टकरा दिये और दोनों के कंधों पर चढ़ बैठे। फिर हम सबको अपनी रसायनशाला दिखाने ले गये—उसमें जर्मनी, इंगलैंड आदि से लौटे उनके बड़े-बड़े वैज्ञानिक शिष्य काम कर रहे थे। एक-एक चपत लगाकर व किसीको चूमकर बड़े गौरव और वात्सल्य के साथ उनका परिचय कराते जाते थे। कहा—"These are my chemical babies"—(ये मेरे रासायनिक या रसायनशास्त्रीय बच्चे हैं)।

जब बापू से वर्धा में मिलने आये तो मामूली-सा बिस्तरा और एक थैला साथ था। सुबह आते ही बापू के कमरे में दाखिल हुए। बापूजी को वह महत्ताजी (महात्माजी का बंगाली अपभ्रन्श) कहकर संबोधन किया करते थे। बातचीत खतम होने के बाद उन्होंने मुझसे चाक मिट्टी मांगी। मुझे ताज्जुब हुआ कि चाक मिट्टी का क्या करेंगे? मैंने पूछा, "स्कूल का 'चाक' चलेगा?" उन्होंने कहा—"हां-हां, जरूर।"

मैं अपनी जिज्ञासा रोक न सका। पूछा—"चाक का आप क्या करेंगे?"

"मैं चाक मिट्टी से ही दातुन करता हूं। यही मेरा मंजन है।"

"आप तो बंगाल कैमिकल के जनक हैं। उसका दन्त-मंजन ही काम में क्यों नहीं लाते हैं?"

मेरे मुंह की ओर कौतुकपूर्ण आंखों से देखते हुए उन्होंने कहा—"सो तो ठगविद्या है। वह सब व्यापार है। असली चीज यही चाक मिट्टी है। दांत इसीसे साफ होता है। पैसा कमाने के लिए दन्त-में थोड़ी खुशबू व कुछ एंटिसेप्टिक (कृमिनाशक) मिला देते मंजन हैं। मैं तो चाक मिट्टी से दांत मांजता हूं।"

मैंने आनन्द, आश्चर्य व आदर के साथ उन्हें मन-ही-मन प्रणाम किया।

: ४६ :

मेरी अहिंसा को कमी

बापू ने मुसलमानों का हृदय जीतने के लिए जितने प्रयास किये उतने अंग्रेजों का हृदय जीतने के लिए नहीं। अंग्रेजी साम्राज्य की जड़ उन्होंने हिला दी, फिर भी अंग्रेज उनको मानते व कद्र करते थे। मुसलमानों के लिए उन्होंने जान की बाजी लगा दीं तब भी—आखिर के कुछ दिनों को छोड़कर—लीगी मुसलमान उन्हें अपना दुश्मन नं० १ मानते थे। मैंने इस स्थिति पर कई बार

मन में विचार किया। बापू की अहिंसा-साधना में कसर है या लीगी मुसलमान ही इतने जड़ हैं ? मुझे ऐसा लगा कि बापू जिस भाषा में अपना प्रेम और सद्भाव उनपर प्रकट करते थे उसे वे समझ नहीं पाते थे। बापू अपने दृष्टि-बिन्दु पर अपने ढंग से उन्हें लाना चाहते थे, जबकि वे अपने दृष्टि-बिन्दु की पूर्ति में बापू से अपने ढंग से सहयोग चाहते थे। इससे बापू की हालत मुर्गी अपनी जान से गई, पर मियां के मन ही न भाई—जैसी हो रही थी। मुझे ऐसा लगा कि बापू को यदि प्रेम व सद्भावना ही दर्शाना है तो वह उन्हींकी भाषा में, उन्हींके ढंग से जिसे वे समझ सकें, क्यों न दर्शावें। प्रेम-पात्र जिस भाषा को समझे वह बोलना अच्छा है या अपनी भाषा, अपना ढंग प्रेम-पात्र पर लादना अच्छा है। प्रेम-प्रदर्शन का सच्चा व सरल तरीका क्या है ? प्रेम-पात्र की भावनाओं का व सुविधाओं का ज्यादा ख्याल रक्खें या अपना ? मैंने बापू को लिखा—मुझे आश्चर्य होता है कि मुसलमान क्यों नहीं अबतक आपपर विश्वास लाते हैं। ज्यों-ज्यों आप उनके लिए छटपटाते हैं त्यों-त्यों वे और छिटकते तथा शंकित होते जाते हैं। आपके प्रेम व सद्भावना में तो कोई कसर नहीं मालूम होती; परन्तु मुझे ऐसा लगता है कि उसके प्रकाशन के प्रकार या ढंग में कोई भूल आपसे हो रही है। आप अपनी भाषा छोड़कर जो भाषा उनकी समझ में आती हो वैसी बोलें तो क्या हर्ज है ?

उन्होंने उत्तर दिया—यह मेरी अहिंसा की साधना की कमी को बतलाता है। उनकी भाषा में बोलने का मतलब यह हुआ कि उनकी मांगें मंजूर कर लूं। उनके जिस सिद्धान्त को मैं दूषित व हानिकर मानता हूं उसे कैसे मंजूर कर सकता हूं ? मुझमें अभी और आग चाहिए, जिससे उनके हृदय पिघल सकें।

अन्त को जाकर उनके बलिदान ने यह अधूरा काम पूरा कर दिया।

: ४७ :

दूसरों की ढाल

सत्याग्रह ने एक ओर बापू को महान बनाया, दूसरी ओर मिट्टी में से नेता बनाने का प्रभाव उनको दिया। आदमी की चमक को वह फौरन देख लेते थे और उनकी कमजोरी को भी। कमजोरी के प्रति वह क्रोध नहीं, सहानुभूति दर्शाते थे ओर चमक के प्रति आदर। इस प्रकार वह व्यक्ति को बड़ा बनाने और चमकाने में सिद्धहस्त हो गये थे। इस प्रक्रिया में उन्हें बड़ी कड़वी घूंटें पीनी पड़ती थीं, बड़े प्रहार सहन करने पड़ते थे, लेकिन वह उन सबको सहकर दूसरों की ढाल बनते थे। भारत का शायद ही कोई बड़ा आदमी या नेता ऐसा होगा जिसकी ढाल बापू न बने हों। जो दूसरों की पोल खोलता है वह बड़ा होने पर भी छोटा हो जाता है। "पिशुन पराये पाप कहि देही", किन्तु जो दूसरों की ढाल बन जाता है वह छोटे से बड़ा बनता ही चला जाता है। बापू को तो जो हमने राष्ट्रपिता माना वह इसी अर्थ में कि न केवल उन्होंने राष्ट्र को बनाया, बल्कि राष्ट्र-नेताओं को बनाया और बचाया भी। एक बार दिल्ली की एक ए० आई० सी० सी० की मीटिंग में वक्ताओं ने बापूजी को खूब आड़े हाथों लिया। बारदोली में सत्याग्रह करने की घोषणा उन्होंने की थी और फिर चौरीचौरा कांड हो जाने के कारण उन्होंने यह घोषणा वापस ली, जिसपर ए० आई० सी० सी० में बड़ा कोलाहल मचा। बापू के जीवन में भारतवर्ष में ऐसे आन्तरिक विरोध का वह पहला ही अवसर था। मुझे बहुत बुरा लगा। मैंने बापू से कहा, "बापू, अबकी तो ए० आई० सी० सी० वाले आपसे बुरी तरह पेश आये। इससे मुझे बड़ी चोट लगी।"

उन्होंने हँसते हुए कहा, "नहीं, मुझे तो उन लोगों का विरोध बहुत अच्छा लगा। उनकी निर्भयता देखकर मुझे विश्वास हो गया कि जो लोग मुझ-जैसे का खुल्लमखुल्ला विरोध कर सकते हैं, वे दुनिया में किससे डरेंगे? किसीका विरोध करते हुए नहीं

डरेंगे। अतः मुझे इन प्रहारों से हर्ष हुआ।"

यह उनके ढाल बनने का एक अच्छा उदाहरण है।

: ४८ :

सेठ जमनालालजी

जमनालालजी कुछ विश्वासों में अपनी बात के पक्के थे—कुछ संस्कार इतने प्रबल थे कि वह बापू की भी नहीं सुनते थे। उनसे भिड़ पड़ते थे। उन्होंने एक नियम-सा कर रखा था कि दान या सहायता उसी संस्था को या व्यक्ति को देनी चाहिए, जिसका काम खुद हमने देखा हो, जिसका सिद्धान्त, राजनीति हमें पसन्द हो। जो लोग बिना खोज-पूछ व सोच-विचार किये मुंह देखकर तिलक लगाते हैं उनकी वह हमेशा आलोचना किया करते थे व अपने मित्रों तथा साथियों को पात्रापात्र का विचार करके दान देने की शिक्षा दिया करते थे। इससे कभी-कभी ऐसा हो जाता था कि सहायता समय पर नहीं मिल पाती थी, जिससे कभी काम बिगड़ जाता था, कभी कार्यकर्त्ता हताश हो जाते थे। एक बार शायद नागपुर के या पूना के तिलक-विद्यालय की सहायता का सवाल दरपेश था। वहां के कार्यकर्त्ता जमनालालजी से मिल चुके थे और उन्होंने शायद यह जवाब दिया था कि मैं संस्था देखकर या अधिक चर्चा करके फिर निश्चय करूंगा। उन्हें पैसे की बहुत तंगी थी। वे बापूजी के पास पहुंचे। बापू को ऐसा लगा कि सहायता तुरन्त मिलनी चाहिए।

वर्धा में प्रातःकाल घूमते हुए बापू ने जमनालालजी से जिक्र किया। छूटते ही सेठजी उबल पड़े—"आपको लोग समझा देते हैं और आप झट से उनकी बातें मान लेते हैं। वे लोग पहले मुझसे मिले थे। मैंने कहा था कि ठहरकर कुछ कर सकूंगा। उन्हें आपको सताने की क्या जरूरत थी?"

बापू (अपने उद्वेग को दबाते हुए)—"हां, सो तो ठीक है, लेकिन आपके निश्चय करने तक तो उनका काम चौपट हो

जायगा। हमें कार्यकर्त्ताओं की सुविधा और कठिनाइयों का ज्यादा खयाल रखना चाहिए, बनिस्बत अपनी जांच-पड़ताल के। कार्यकर्त्ता यदि ईमानदार हैं तो फिर हर समय ज्यादा सख्ती से नुकसान होता है।"

सेठजी (झल्लाकर)—"लेकिन मैं अपना तरीका नहीं बदल सकता। आपकी बात दूसरी है। आपके जितनी शक्ति मुझमें नहीं। मैं आपकी चाल चलने लगूं तो 'कौवा चले हंस की चाल' वाली गत होगी।"

उन्होंने बापू को सूखा-सा जवाब दे तो दिया; पर पीछे से, मुझे जहांतक याद पड़ता है, कुछ रुपये भिजवा दिये थे। सेठजी जितने ऊपर से सख्त थे, भीतर से उतने ही दयार्द्र थे।

लेखक की अन्य रचनाएं

१. साधना के पथ पर
(अहिंसा के अनुभव)

२. मनन
(अनुभव वचन)

३. पुण्य स्मरण
(जीवन-झांकियां)

४. युगधर्म
(निबंध-संग्रह)

५. स्वतन्त्रता की ओर
(गांधी-जीवन का अर्थ)

६. श्रेयार्थी जमनालालजी
(जीवनी)

७. भागवतधर्म
(भागवत के ग्यारहवें स्कंध का लोक-सुलभ अनुवाद एवं टीका)

८. विश्व की विभूतियां
(जीवनियां)

सवा रुपया